श्री महावीराय नमः श्रीमत् सुदर्शन गुरवे नमः

अनुप्रेक्षा की उमंग

भाग-2

लेखकः
गुरु सुदर्शन शिष्य जय मुनि

जय जिनशासन प्रकाशन

अनुप्रेक्षा की उमंग

भाग-2

जय जिनशासन प्रकाशन

प्रथम संस्करण — नवम्बर 2024
सर्वाधिकार © प्रकाशक

प्रकाशक / प्राप्ति स्थान :–
रविन्द्र जैन
जय जिनशासन प्रकाशन
212, वीर अपार्टमैन्टस्, सैक्टर 13,
रोहिणी, दिल्ली-110 085
Mob: +91-98102 87446
Email : jaijinshaasanprakaashan@gmail.com

सज्जा :–
सिस्टम्स् विज़न, नई दिल्ली
Mob: +91-98102 12565
Email: systemsvision96@gmail.com

मुद्रक :–
पारस ऑफसैट प्रा. लि., दिल्ली
Email: info@parasoffset.com

ANUPREKSHA KI UMANG – 2

Author:– गुरु सुदर्शन शिष्य—जय मुनि

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश की, फोटोकॉपी एवं रिकार्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुनर्प्रयोग की किसी भी प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

श्री सुदर्शन गुरवे नमः

अनुक्रमाणिका

क्रमांक	विषय सूची	पृष्ठ
1.	जैन संप्रदायों की एक झलक	1
2.	चर्या की नज़र से जैन साधुत्व	24
3.	जैन श्रावकों की जीवन शैली	45
4.	नव तत्त्व का महत्त्व	71
5.	आत्मा परमात्मा बन सकता है	98
6.	अनेकान्त– सिद्धान्त एवं व्यवहार	119
7.	मन का समाधान : ध्यान	137
8.	संवत्सरी आराधना	179

प्रकाशकीय

'अनुप्रेक्षा की उमंग' का दूसरा भाग आपके करकमलों में प्रस्तुत है। प्रथम भाग की तरह इस भाग में सम्मिलित निबंध पहले डायरी रूप में उपलब्ध थे। इस निबंध संग्रह में जैन धर्म से संबंधित कुछ विशिष्ट विषय चर्चित हुए हैं। इन लेखों से पाठकों को जैन धर्म के महान इतिहास तथा सिद्धान्तों का स्पष्ट ज्ञान होगा। ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। बिलकुल तटस्थ असांप्रदायिक चिन्तन के द्वार खोलने वाले ये लेख आपको अवश्य पसन्द आएंगे।

संघ शास्ता, शासन प्रभारक गुरुदेव श्री सुदर्शन लाल जी म. के अंतेवासी बहुश्रुत श्री जयमुनि जी म. की लेखनी से निःसृत ये लेख अपनी मौलिक शैली और प्रतिपादना के कारण बड़े रुचिकर बने हैं।

भ. महावीर स्वामी के 2550वें निर्वाण वर्ष की पूर्ति पर इस पुस्तक का प्रकाशित होना हमारे लिए परम हर्ष का विषय है।

प्रकाशक एवं पाठक उसी वीर प्रभु के प्रति अपनी विनयाञ्जलि प्रस्तुत करता है।

"जय जिनशासन प्रकाशन"
रविन्द्र जैन

1. जैन संप्रदायों की एक झलक

विश्व के प्रायः सभी धर्म सम्प्रदायों में बंटे हुए हैं। संख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा धर्म– ईसाई धर्म दो भागों में विभक्त है– रोमन कैथोलिक तथा प्रोटैस्टैण्ट। इस्लाम का नम्बर दूसरे स्थान पर है– यह भी दो प्रमुख हिस्सों में विभाजित है– शिया और सुन्नी। तीसरे नम्बर पर आने वाला हिन्दू धर्म अनेक शाखाओं का समूह है, उसमें एक रूपता प्रारंभ से नहीं रही। अतीत से वर्तमान तक यह सैंकड़ों आकार-प्रकारों में ढलता रहा है। चौथे नम्बर पर आने वाला बौद्ध धर्म भी महायान तथा हीनयान इन वर्गों में बंटा हुआ है। हाँ, जैन धर्म भी प्राचीन काल से दो रूपों में पहचाना गया और आज इसके चार रूप दृष्टि गोचर हो रहे हैं।

जैनों के इस दो रूपों या चार रूपों में विभाजन को इस धर्म का विकास और विस्तार माना जाए, न कि ह्रास। कोई भी वृक्ष जब जडों से ऊपर उठता हुआ तने और शाखा के स्तर पर आता है तब कभी-2 उसके तने ही दो बन जाते हैं, यदि तना एक भी रहे पर शाखाएं तो अनेक बन ही जाती हैं। जब हम वृक्ष की अनेक शाखाओं में उस वृक्ष के वैभव और विस्तार को देख लेते हैं तो किसी भी धर्म की विविध शाखाओं को उस रूप में क्यों न देख लें? जैन धर्म तो वैसे भी विविधतावादी धर्म रहा है, इसका प्रमुखतम सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। जो द्रव्य की एकरूपता को स्वीकार करता हुआ पर्यायों की अनेकता का निश्चित प्रतिपादन करता है। धर्म का हार्द (Core) कायम रहे तो उसकी अनेक व्याख्याएँ (Interpretations) उसके सौन्दर्य और गौरव की वृद्धि ही करती हैं। जैन संप्रदायों की बाहरी अनेकता में भी आन्तरिक एकता इसकी शक्ति रही है दुर्बलता नहीं। Unity in diversity को पहचान लिया जाए तो संप्रदायों का उत्तरोत्तर निर्माण चिंता और विषाद की बजाय हर्ष और उल्लास का कारण बन सकता है।

यदि जैन धर्म के 100 प्रमुख सिद्धान्तों (Salient features) का संग्रह किया जाए तो 90 सिद्धान्त चारों संप्रदायों को मान्य होगें, हाँ 10 सिद्धान्तों पर असहमति हो सकती है।

शाकाहार, रात्रि भोजन का त्याग, 7 कुव्यसन का त्याग, नवकार मंत्र, चौबीस तीर्थंकर, काल चक्र के छह आरे, नौ तत्त्व, पांच ज्ञान, प्रमाण और नय, चार गति, पांच जाति, 14 गुणस्थान, छह द्रव्य, पांच महाव्रत, चौदह राजू लोक, आठ कर्म, आत्मा तथा कर्म का स्वरूप आदि किसी भी सिद्धान्त की ओर झांक कर देखा जाए, सर्वत्र जैनों में एक-स्वरता, एक-रूपता मिलेगी। भिन्नता कुछ कहानियों में, साधु-सतियों की जीवन चर्या में या पूजा-पाठों के विधि-विधानों को लेकर हो सकती है। जैनों का मूल एक है, शाखाएं चारों दिशाओं में व्याप्त हैं जिन शाखाओं पर पत्ते भी हैं, फूल भी हैं तथा फल भी हैं। इस दृष्टि कोण को केन्द्र में रखकर संप्रदायों की समझ बढ़ाई जाए तो विसंवाद घटेगा, संवाद बढ़ेगा।

भगवान महावीर (ईसा पूर्व-599 वर्ष जन्म, 527 निर्वाण) जैन धर्म के प्रथम प्रवर्तक नहीं थे। वे इस धर्म-धारा के चौबीसवें तीर्थकर थे। चौबीस तीर्थकरों में से अंतिम तीन तीर्थंकरों– श्री अरिष्टनेमि, श्री पार्श्वनाथ तथा श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वर्तमान इतिहासविदों ने ऐतिहासिक महापुरुषों के रूप में स्वीकार किया है। श्री अरिष्टनेमि भगवान भारतीय संस्कृति के प्राणभूत; गीता उपदेशक श्री कृष्ण जी के ताऊ जी के पुत्र थे तथा पाश्वनार्थ भगवान महावीर के जन्म से 178 वर्ष पूर्व तक भारत वर्ष में विशुद्ध धर्म का संदेश देते रहे थे। स्वयं भगवान महावीर स्वामी का जन्म पार्श्वनाथ भगवान के श्रद्धालु कुल में हुआ था। उनके पिता राजा सिद्धार्थ का धार्मिक संस्कार पार्श्वनाथ भगवान के मुनियों के माध्यम से हुआ था तथा उनकी माता त्रिशला के पैतृक परिवार (पीहर) को पार्श्वनाथ भगवान की विरासत मिली थी। इसलिए ये निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैशाली गणतंत्र के

अधिपति चेटक त्रिशला के भाई भी पार्श्वनाथ भगवान की मान्यताओं के अनुयायी थे। इस तरह माता पिता दोनों तरफ से भगवान महावीर का जन्म जैन परिवार में हुआ था। वे जैन धर्म की आदि करने वाले नहीं थे। पहले तीर्थंकर श्री ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी तक जैन धर्म एक ही धारा में बहता रहा था। इसकी अलग-2 धाराएं नहीं बनी थी। उस विशाल काल प्रवाह में जैनों में एक रूपता बनी रही थी। उस युग में इस धर्म को 'निर्ग्रन्थ धर्म' कहा जाता था। 'जैन' शब्द बहुत बाद की उपज है। जब बुद्ध की विचारधारा 'बौद्ध धर्म'; शिव की भक्ति शैवधर्म के रूप में विख्यात होने लगी तब 'जिन' (जिनेन्द्र; तीर्थंकर) की मान्यता 'जैन-धर्म' के रूप में पहचानी जाने लगी। बुद्ध को मानने वाले बौद्ध, शिव को मानने वाले शैव तथा जिन को मानने वाले जैन कहलाए। अपने कषायों, राग-द्वेष आदि दोषों को संपूर्णता से जीतने वाले महापुरुष 'जिन' होते हैं। तथा उनके वचनों पर श्रद्धा रख उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले जैन होते हैं। यह जैन शब्द भगवान महावीर के युग में प्रयुक्त नहीं होता था। पहले यह निर्ग्रन्थ धर्म के रूप में जाना गया, फिर आर्हत धर्म के रूप में और अंत में इसका स्थायी नाम पड़ा है— जैन धर्म।

भगवान महावीर का गृहस्थ काल 30 वर्ष, साधना काल 12½ वर्ष तथा केवली काल-उपदेश काल— 30 वर्ष रहा उनके साधना काल में उनका संपर्क मंखलिपुत्र गोशालक से हुआ था, प्रारंभ में वह उनका शिष्य बनकर रहा, पर कुछ अर्से के बाद उनसे पृथक् होकर उनके प्रतिद्वन्दी के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

उनके चरणों में विधिवत् दीक्षित होकर उनके विरुद्ध बगावत का बिगुल बजाने का पहला कदम जमालि ने उठाया था। लेकिन वह अधिक कामयाब नहीं हो सका। भगवान महावीर का समय संप्रदाय मुक्त ही रहा।

उनके संघ में भगवान पार्श्वनाथ के मुनियों का भी प्रचुर मात्रा में प्रवेश हुआ। वे मुनि जब भगवान या उनके शिष्यों के निकट पहली बार संपर्क में आए तक उनकी विचार-आचार शैली भिन्न थी परन्तु बाद में जब उनसे चर्चा हुई तो अपनी आचार-विचार की भिन्नता को छोड़ भगवान महावीर की शैली में ही ढल गए। भगवान महावीर के रहते हुए भिन्नताएं एकता में तब्दील हुई थी। जबकि एकता में भिन्नता का उद्‌भव पश्चाद्‌वर्ती काल की देन है।

यदि हम प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग के चिन्तन परिप्रेक्ष्य में देखें तो ब्राह्मण संस्कृति प्रवृत्ति मार्गी तथा श्रमण संस्कृति निवृत्ति मार्गी कही जाती है। उसमें भी जैन परम्परा निवृत्ति मार्ग का उत्कृष्ट नमूना बनकर उभरी। इसमें भी आगे बढ़ें तो भगवान महावीर ने अपने मुनियों को दो प्रकार की जीवन शैली दी। अति कठोर शैली को जिनकल्प तथा अल्प कठोर शैली को स्थविर कल्प का नाम दिया गया। दोनों प्रकार की साधनाएं कठोर साधनाएं थी, अन्तर केवल मात्रा में था, गुणात्मकता दोनों की एक थी। जिनकल्प तथा स्थविर कल्प पूर्वापर दो अवस्थाएं थी न कि परस्पर विरोधी स्थितियां। जिनकल्प का पालन करने वाले साधकों का अधिक काल निर्जन क्षेत्रों में व्यतीत होता था तो स्थविर कल्प के आराधक मुनियों का नागरिक जनों के बीच। जिनकल्पी प्रायः वस्त्र का त्याग रखते थे जबकि स्थविर कल्पी वस्त्र का प्रयोग करते थे। दोनों प्रकार के मुनि अपने कल्प में कुछ समय बिताकर दूसरे में भी लौट आते थे। स्थविर कल्पी जिनकल्प को अपना लेते थे तथा जिनकल्पी स्थविर कल्प को भी। दोनों दरवाजे खुले थे और दोनों का परस्पर आवागमन होता रहता था। जिनकल्पी स्वयं को बड़ा तथा स्थविर कल्पी को छोटा नहीं मानता था। इसी तरह स्थविर कल्पी भी स्वयं को सही तथा जिन कल्पी को गलत नहीं कहता था। दोनों परस्पर सहयोगी थे, प्रतियोगी-प्रतिद्वन्दी नहीं थे। भगवान महावीर के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व तथा व्यापक दृष्टि कोण के रहते हुए

दोनों प्रकार के साधकों का परस्पर तालमेल बना रहा अनेकान्तमय चिन्तन तथा स्याद्वादी भाषा के कारण दोनों जीवन शैलियों ने जैन धर्म को (निर्ग्रन्थ-आर्हत धर्म) ठोस बुनियाद प्रदान की।

भगवान महावीर के समय में ही उनके प्रमुख शिष्य-गणधरों ने उनके सिद्धान्तों को संकलित करके 'द्वादशांग वाणी' (बारह अंग सूत्र) के रूप में पिरो दिया था। सबसे पहले सूत्र आचारांग में इस समन्वित दृष्टि को उजागर करने वाली पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। इस सूत्र के प्रथम श्रुत स्कंध छठे अध्ययन 'धुत' के द्वितीय उद्देशक में वर्णन है कि जो भिक्षु वस्त्र रहित रहना चाहता है, उसे अल्प भोजन का अभ्यास आवश्यक है, उसे गाली-अपशब्दों के साथ-2 मारपीट को भी सहना पड़ेगा, क्योंकि संसार में कुछ व्यक्ति लज्जाशीलता को प्रमुखता देते हैं तथा कुछ उपेक्षा कर लेते हैं। इसीलिए नग्नता को वही अंगीकार करे जो लोगों के मध्य न आए।

इसी अध्ययन के तृतीय उद्देशक में अचेलकता (निर्वस्त्रता) की स्तुति करते हुए कहा है कि जो भिक्षु निर्वस्त्र जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें न तो ये चिन्ता रहती है कि मेरा वस्त्र पुराना हो गया, नया चाहिए; फटने पर सूई धागे की चिन्ता नहीं, सीने-पिरोने की फिक्र नहीं। वह सर्दी-गर्मी दंशमशक तथा नाना प्रकार के विविध कष्टों को सहज भाव से सहन कर लेता है। वह बिल्कुल हल्का रहता है, वह तप प्रधान जीवन व्यतीत करता है।

आचारांग के ही आठवें अध्ययन के चौथे, पांचवें, छठे तथा सातवें उद्देशकों में सवस्त्रता से अवस्त्रता तक के कई चरणों का दिग्दर्शन कराया है। सर्दी में तीन चादर रखने वाला भिक्षु गर्मी का मौसम आने पर दो चादर या एक चादर या बिना वस्त्र के भी गुजारा करने का प्रयत्न करे। ऐसे ही दो चादरों वाला एक चादर या निर्वस्त्रता को अपना ले। एक चादर वाला निर्वस्त्रता को अपनाने का प्रयास करे। यहाँ तक

कि निर्वस्त्र होने पर जो साधु शारीरिक परीषहों, कष्टों को तो सहने की क्षमता रखता है पर वह लज्जा शीलता के कारण वस्त्र नहीं छोड़ सकता, वह कटि बंधन (लंगोटी) धारण कर ले। सर्वप्रथम आगम की इन पंक्तियों में भगवान महावीर की अनेकान्तवादी समन्वय-परक दृष्टि स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही है।

परन्तु भगवान महावीर के निर्वाण के 150 वर्ष के अन्दर-2 जिनकल्प तथा स्थविर कल्प के पालन कर्त्ताओं का समन्वय बिखराव की ओर मुड़ने लगा था। दोनों प्रकार के साधकों के पास इतिहास भी समान था, आगम भी वही थे, परन्तु दोनों का दबाव बिंदु (Emphasis) बदलने लगा। दबाव आभ्यन्तर सिद्धान्तों को लेकर नहीं था, केवल बाहरी जीवन चर्या के प्रतिमानों-पहचानों को लेकर था। मुनि वस्त्र रखे ही या छोड़े ही, ये मुद्दा चिंतन और चर्चा में आ गया। अनेकान्तवादी दृष्टि कोण गौण होने लगा और एकान्तवादी दृष्टिकोण हावी होने लगा।

जिनकल्प समर्थकों का विचार था कि साधकों को अपरिग्रह महाव्रत निभाना है तो धन-धान्य, मकान, जमीन, सोना-चांदी के त्याग के साथ-2 वस्त्र-पात्र आदि का भी त्याग करना आवश्यक है। यहाँ तक कि समूह में रहने की बजाय एकाकी जीवन व्यतीत करना भी आवश्यक है। इधर स्थविर कल्प के समर्थकों का कहना था कि जिनकल्प तो जिन (तीर्थंकर तथा केवली) भगवन्तों के समय की व्यवस्था थी, जिन नहीं रहे तो जिन कल्प भी नहीं रहा अब स्थविर कल्प का युग आ रहा है। जहाँ तक अपरिग्रह महाव्रत की आराधना का प्रश्न है तो वास्तविक परिग्रह वस्त्र पात्र नहीं है, मानसिक आसक्ति है। इस विचार को आवाज मिली दशवैकालिक सूत्र में तथा उसकी प्रतिध्वनि आई तत्त्वार्थ सूत्र में।

जंपि वत्थं च पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तंपि संजम लज्जट्ठा धारंति परिहंरति य ॥

न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा ॥

यदि मुनि वस्त्र पात्र कंबल आदि रखते और पहनते हैं तो उसका ध्येय संयम की रक्षा तथा लज्जा का निवारण है। ये परिग्रह के अंतर्गत नहीं आते। परिग्रह तो मूर्च्छा– आसक्ति भाव है। दशवैकालिक छठा अध्ययन। 'मूर्च्छा परिग्रहः' तत्त्वार्थ सूत्र 7वां अध्याय।

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुत स्कंध तृतीय अध्ययन III उद्दे. में समूह जीवन तथा एकाकी जीवन जीने वालों का पक्ष-प्रतिपक्ष दिखाया गया है। वस्त्र रखने या न रखने को लेकर विचार भिन्नता तो भगवान महावीर के बाद ही बनने लगी थी, लेकिन संघ भिन्नता की स्थिति एकदम नहीं बनी। बढ़ती हुई विचार भिन्नता संघ भिन्नता के रूप में न बदल जाए, इस बात को ध्यान में रखते हुए पांचवें श्रुत केवली (अंतिम चतुर्दश पूर्वधर) श्री भद्रबाहु स्वामी ने परस्पर समन्वय का बहुत बड़ा कदम उठाया। उन्होंने जिन कल्प की पालना को मान्य करते हुए स्थविर कल्प की उपयोगिता को स्वीकृति प्रदान की। विखण्डित होते-2 संघ का एकत्व कायम हो गया। भद्रबाहु स्वामी के महान योगदान को इतिहास में रेखांकित करने वाला एक तथ्य ये है कि भगवान महावीर के बाद केवल भद्रबाहु आचार्य ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनका नाम दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों की पट्टावलियों में सुरक्षित है। भगवान महावीर के बाद पहले गद्दीधारी आचार्य को लेकर मतभेद हैं; दिगम्बर परम्परा श्री गौतम स्वामी को प्रथम आचार्य लिखती है तो श्वेताम्बर परम्परा आचार्य सुधर्मा को। ढाई हजार साल के काल में निर्विवाद रूप से दोनों संप्रदायों के श्रद्धा पात्र हैं तो एक मात्र आचार्य भद्रबाहु स्वामी ही हैं। इनका अंतिम काल भगवान महावीर स्वामी के 180 साल बाद माना जाता है। इनके युग में दुर्भिक्ष पड़ने की चर्चा दोनों संप्रदायों में समान रूप से मान्य है। हाँ, दोनों ने उस दुर्भिक्ष काल में उनकी उपस्थिति अलग-2 स्थानों पर बताई है। दिगम्बर कहते हैं कि वे दक्षिण भारत में

चले गए थे, जबकि श्वेताम्बर ग्रंथों में लिखा है कि वे नेपाल में चले गए थे। श्वेताम्बरों की धारणा है कि दुर्भिक्ष के बाद वे मगध की राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) में भी आए थे। उनके गुरु भ्राता संभूत विजय के शिष्य स्थूलभद्र को उन्होंने चौदह पूर्वों का शब्द बोध तथा दस पूर्वों का अर्थ बोध दिया था। स्थूलभद्र निश्चित रूप से स्थविर कल्प वाली परम्परा के पोषक श्वेताम्बरों में सर्वोपरि गिने गए। **'मगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमः प्रभुः, मंगलं स्थूलभद्राद्याः जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्"** इस प्रसिद्ध श्लोक में भगवान महावीर तथा गौतम स्वामी के बाद जैन धर्म की पहचान करवाने वाले आचार्यों में श्री स्थूलभद्र जी को आदि स्थान दिया है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर इन दो शाखाओं का अंतिम मिलन बिन्दु श्री भद्रबाहु स्वामी हैं परन्तु ऐसा कोई आचार्य या व्यक्तित्त्व नहीं है जिसे विभाजनकर्त्ता कहा जा सके। यद्यपि दोनों संप्रदायों में एक सहस्राब्दी बाद ऐसी कहानियां घड़ी गई कि फलां आचार्य ने दिगम्बरत्व की विशुद्ध परम्परा को छोड़कर श्वेताम्बरत्व की नींव डाली तथा फलां आचार्य ने श्वेताम्बरत्व से बगावत कर दिगम्बरत्व की राह अपनाई। लेकिन उन कहानियों में प्रामाणिकता का कोई अंश नहीं है, केवल कपोल कल्पना है या प्रतिपक्ष-परिवाद मात्र। उन कहानियों में यदि कुछ सत्य तलाशा जाए तो इतना पता लगता है कि भगवान महावीर के निर्वाण के 600 वर्ष बाद दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों वर्ग अपनी-2 स्थिति पक्की कर चुके थे, दोनों ने अपना-2 अनुयायी वर्ग तैयार कर लिया था, इलाके बांट लिए थे, आगम-सूत्र भी अलग-2 बना लिए थे। इसीलिए दोनों साथ-2 चलने की बजाय आमने-सामने आ गए थे। दोनों संप्रदायें बिहार से बाहर निकल चुकी थी। दिगम्बर संप्रदाय दक्षिण भारत की ओर तथा श्वेताम्बर संप्रदाय उत्तर भारत की ओर पनपी। दिगम्बरों के महान् आचार्य कुंदकुंद ने समयसार-प्रवचनसार-नियमसार आदि कुछ मौलिक ग्रंथों की रचना कर दिगम्बर संप्रदाय को परम्परागत आगमों की निर्भरता से मुक्त कर दिया। आ. पुष्पंदत, भूतबली आदि ने नूतन साहित्य सर्जना कर उस परम्परा में और जान भर दी। परिणाम

ये निकला कि वस्त्र त्याग तथा अत्याग वाली विचार भिन्नता में नए-2 आयाम और जुड़ गए। नारी को मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य करार किया जाने लगा, महाव्रत ग्रहण से वञ्चित किया गया। तीर्थंकर भगवन्तों के स्वरूप को लेकर मान्यता में भेद उभरे। जैसे कि केवल ज्ञान के बाद कवलाहार नहीं होता, तीर्थंकर बोलकर प्रवचन नहीं देते, महावीर की शादी नहीं हुई, उन्होंने अपने माता-पिता से आज्ञा लेकर दीक्षा ली आदि-2। इन परोक्ष बातों को लेकर आक्षेप-प्रत्याक्षेप शुरु हो गए। श्वेताम्बर परम्परा के पास अपनी परम्परा से चले आ रहे आगम थे, हालांकि उनका कुछ भाग विस्मृत, खंडित और विलुप्त हो गया था, परन्तु जितना बकाया था, उसे वे परिपूर्ण व सही मानते थे, उसमें कोई Mixing या Adulteration, Alteration नहीं हुई, ऐसी उनकी मान्यता रही। ये ध्यान रहे कि ये विभाजन काल प्रवाह जन्य था, व्यक्ति मूलक नहीं। हाँ, इस विभाजन से पूर्व ही जैन शासन में पड़ौसी समाजों के संपर्क के कारण प्रतिमा-मूर्ति का प्रवेश हो चुका था। यह प्रवेश इतना चुपचाप और सरलता से हुआ कि कहीं से भी इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठी। मूर्ति प्रवेश ने दोनों संप्रदायों के मुनियों के लिए ये सुविधा प्रदान कर दी कि वे आसानी से अपना प्रचार कर सकते थे। जब और जहाँ मुनि नहीं हों वहाँ मूर्ति उनका स्थान ले सकती थी और जन सामान्य के लिए आस्था का आधार भी बन सकती थी।

भ. महावीर के युग में न कोई जैन मंदिर थे, न तीर्थंकरों की प्रतिमाएं। परन्तु भग. के निर्वाण के 300-400 साल तक प्रतिमाओं ने अपना अस्तित्त्व बना लिया था। श्वेताम्बर आगमों ने इस अस्तित्त्व को हल्की-2 मान्यता देना शुरु कर दिया था। जैसे ये कहना कि देवलोकों में जिन प्रतिमाएं हैं, लाखों क्रोड़ों योजन दूर नंदीश्वर आदि द्वीपों पर प्रतिमाएं हैं आदि। परन्तु जैन मंदिरों का अस्तित्त्व उज्जैनी, चंपा, पाटलीपुत्र, ताम्रलिप्ति आदि किसी भारतीय शहर में रहा हो, ऐसा

किसी आगम में नहीं है। पश्चाद्वर्ती कथाकारों के कथानकों की बात अलग है।

भ. महावीर के निर्वाण के 600 वर्ष पश्चात् जब दिगम्बर-श्वेताम्बरों का formal विभाजन हो रहा था, तब जैनों की एक तीसरी संप्रदाय का जन्म भी हुआ था। उस का नाम था यापनीय संप्रदाय। इस संप्रदाय के अस्तित्त्व की जानकारी आज से 100 वर्ष पूर्व तक किसी को नहीं थी। भारतीय विद्या के कुछ विद्वानों ने कर्नाटक में मिले ब्राह्मीलिपि में लिखे अनेक शिलालेखों का अध्ययन किया तब इसका आकार उभर कर आया। यह संप्रदाय लगभग एक हजार वर्ष तक कर्नाटक के इलाके में पनपती रही और धीरे-2 इसका समग्र विलय दिगम्बर संप्रदाय में ही हो गया। इस संप्रदाय के साधकों को दिगम्बर-श्वेताम्बर का समन्वित रूप कहा जा सकता है। दिगम्बर मुनियों की तरह इनके मुनि नग्न और पाणि पात्री होते थे परन्तु श्वेताम्बरों की तरह ये स्त्री मुक्ति तथा केवलि भुक्ति को स्वीकार करते थे। कुछ प्रबुद्ध चिन्तकों का मन्तव्य है कि उनके मान्य ग्रंथों में आचारांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि थे तो मूलाचार भगवती आराधना जैसे ग्रंथ भी थे। प्रारंभ में इनके साथ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों संप्रदायों ने विरोध भाव रखा। श्वेताम्बर इनकी नग्नता को स्वीकार नहीं करते थे, दिगम्बर इनकी स्त्री मुक्ति आदि की धारणा को। तत्त्वार्थ जैसा महान् ग्रंथ यापनीय आचार्य उमास्वाति की देन है ऐसा कुछ विचारकों का मन्तव्य है। आज उनके अस्तित्त्व की कहानी ब्राह्मीलिपि के शतसहस्र शिलालेख ही बयान कर रहे हैं। अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

एक अन्य संप्रदाय के सूचक शिलालेख मिलते हैं जो कुछेक सदियों तक कर्नाटक के हाल्सी संभाग में फला फूला था। इसके संबंध में कोई साहित्यिक प्रमाण नहीं मिलता। इस संप्रदाय के एक मंदिर का निर्माण मृगेशवर्मा राजा ने करवाया था। इसी राज-परिवार की अगली पीढ़ी में जब रवि वर्मा राजा हुए– तब भी वसन्तुवाटक गांव में एक मंदिर बना

था। इन एक दो शिलालेखों के अलावा और अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। यह संप्रदाय कुछ काल तक जीवित रह सकी। दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो ही संप्रदायों को दीर्घ जीवन मिला। श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के मंदिरों के निर्माण के साथ-2 दोनों संप्रदायों के विद्वज्जनों ने विशाल साहित्य का निर्माण भी किया। तमिल भाषा का प्रारंभिक साहित्य दिगम्बर जैनों की देन है। कन्नड़ भाषा में भी इस संप्रदाय के महान् ग्रंथ रचित हुए। संस्कृत तथा शौरसेनी प्राकृत में इनकी रचनाएं विश्वस्तर के मुकाबले की हैं। श्वेताम्बर परम्परा के मुनियों ने भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा गुजराती साहित्य की समृद्धि में विशेष योगदान दिया।

भ. महावीर के निर्वाण के 980 साल बाद श्वेताम्बर परम्परा में एक विलक्षण कार्य ये हुआ कि उस युग में उपलब्ध सभी आगम लिपिबद्ध किए गए। इस अभियान के सूत्रधार थे आ. देवर्धिगणी क्षमाश्रमण तथा स्थान था वलभी। शायद यह लेखन कार्य 993 में पूर्ण हुआ।

दोनों संप्रदायों के मुनियों ने अपने-2 इलाके में अपने-2 जमाने में शासक वर्ग को जैन धर्म की ओर उन्मुख भी किया। शासकीय संरक्षण के फलस्वरूप बहुत बार जैन धर्म को विस्तार और प्रभाव मिला तो कभी-2 प्रतिक्रिया स्वरूप प्रताड़नाओं का शिकार भी होना पड़ा। जैन धर्म का विरोधी शासक यदि सिंहासनारूढ़ हो गया तो उसने जैन मुनियों और गृहस्थों को कुचलने (Persecute करने) में अपनी पूरी ताकत भी लगाई। कभी बौद्ध शासकों के कोप का शिकार होना पड़ा तो कभी शंकराचार्य प्रेरित हिन्दू शासकों ने भी जुल्म की इन्तहा की। विविध विरोधों के बाबजूद जैन धर्म की दोनों शाखाएं जनमानस में अपना प्रभाव सुरक्षित रख सकी क्योंकि जैन मुनियों का आचरण निर्दोष था तथा त्याग अद्वितीय था। इनकी कठोर चर्या को देखकर जनमानस में श्रद्धा का जागरण स्वतः हो ही जाता था। भारतीय जनता की

मानसिकता त्याग को नमन करने की रही है। इस मानसिकता का लाभ जैन मुनियों को सदैव मिला।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायें अपने-2 प्रभाव क्षेत्रों में तो निर्द्वन्द्व होकर कार्य करती रही किन्तु जिस इलाके में दोनों का संयुक्त प्रचार-प्रसार हुआ, वहाँ औरों का मुकाबला करने की बजाय आपस में भी खूब टकराई हैं। एक दूसरे पर दोनों ने अजैन, जैनाभास होने का आरोप लगाया। कई जगह राजदरबारों में शास्त्रीय विवाद भी हुए। दोनों ओर से आक्षेपात्मक ग्रंथ भी लिखे गए। ऐसी विसंगतियों का अखाड़ा मालवा-मध्यप्रदेश-गुजरात तथा उसके आसपास का क्षेत्र रहा। इन टकरावों से जैनों की ऊर्जा क्षीण हुई और समीपवर्ती समाजों में जग हंसाई भी हुई तथा इस फूट का फायदा भी उन्हें मिला।

दिगम्बर परम्परा में गोम्मटेश्वर बाहुबली जैसी विश्वविख्यात पाषाण प्रतिमा का निर्माण हुआ तो श्वेताम्बर परम्परा में दिलवाड़ा और रणकपुर के मंदिरों का शिल्प सारे संसार को चकित करने लगा।

मंदिरों के निर्माण के बाद जैन मुनियों का ध्यान दो दिशाओं में मुड़ा। पहला, मंदिरों की सुरक्षा और महिमा के लिए बड़ी-2 जागीरों का संग्रह करना, दूसरा, साहित्य के नव सृजन में लीन होना।

पहली प्रवृत्ति से परिग्रह बढ़ा; आलस्य और सुविधावाद बढ़ा, मंदिरों के आडम्बर बढ़े और फलस्वरूप दिगम्बरों में साधु और गृहस्थ के बीच की कडी के रूप में भट्टारक वर्ग खड़ा हुआ तथा श्वेताम्बर संप्रदाय में 'यति वर्ग' तैयार हुआ। साहित्य के निर्माण में लीन महामुनियों ने जहाँ जैनत्व को उच्च धरातल प्रदान किया, वहीं मंदिरों के आडम्बरों ने जैनों का साधना धरातल ब्राह्मण समाज के पुरोहितों के बराबर ला खड़ा किया। साधनों की अधिकता ने जैन धर्म को विस्तार दिया तो साधना की अल्पता ने इसे ह्रासोन्मुखी भी बना दिया। लगभग हजार साल तक यह स्थिति बनी रही। उन्नति और अवनति दोनों साथ-2

चलते रहे। लगभग एक हज़ार वर्ष तक का यह काल श्वेताम्बर परम्परा में मूर्ति पूजा का रहा आ. देवर्द्धिगणी के बाद लोकाशाह तक मूर्ति को किसी ने Challenge नहीं किया। आ. सिद्धसेन, आ. जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, आ. हरिभद्र सूरि, मलयगिरि, आ. हेमचन्द्र सूरि जैसे उद्भट विद्वानों की लंबी शृंखला इस मान्यता को पुष्ट करती रही। खरतरगच्छ, तपागच्छ सरीखे बड़े-2 समुदाय इस संप्रदाय की पहचान बने। अपने-2 युग के मुख्य-2 शासकों का संरक्षण भी इन्हें मिला। कला साहित्य, संस्कृति के विकास में इस संप्रदाय ने अतुल्य योगदान दिया। गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, पंजाब आदि प्रान्तों में जैनत्व का प्रसार-प्रचार इन मुनियों ने किया। इस कालावधि में मुखपत्ती हाथ में रखी जाती रही, हाथ में दंड धारण, वासक्षेप का वितरण, मुनियों की चर्या का मुख्य अंग रहा, मंदिर निर्माण, मूर्ति स्थापना, रथ यात्राओं के आयोजन आदि में मुनि वर्ग का अधिकांश समय एवं सामर्थ्य व्यतीत होता था। कुछ आंतरिक दृष्टि संपन्न मुनिराज स्वाध्याय की ज्योति जलाए रखते थे। आगमों की टीकाएं लिखना, नए ग्रंथों का प्रणयन करना, विलुप्त साहित्य की सुरक्षा करना तथा सुन्दर लिपि द्वारा शास्त्रीय श्री वृद्धि करना, ऐसे मुनियों का ध्येय होता तथा ग्रंथों के लेखन के लिए ताड़पत्र, भोजपत्र लेखन सामग्री का संग्रहण, लिपिकारों का प्रबंध करना श्रावक वर्ग का दायित्व था। कुल मिलाकर ये समय किसी दृष्टि से प्रगति का था तो अन्य दृष्टि से अवनति का भी था। क्योंकि आरंभ-समारंभ तथा परिग्रह के बिना बाहरी तरक्की संभव नहीं थी तथा इनकी अधिकता के समय त्याग, संयम की सुरक्षा संभव नहीं थी। जैन धर्म के अलावा अन्य धर्मों की स्थिति भी कोई अधिक भिन्न नहीं थी। धर्म ही क्यों? इस दौरान समग्र देश ने भी ऊंचे नीचे दिन देखे। मौर्य शासक आए, गुप्त काल गुजरा, शक हूणों ने अपना दम दिखाया। प्रान्तीय शासक भी उभरे। मुगलों के आक्रमण हुए। उनके राज्य वंश स्थापित हुए। जैनों को सब का सामना करना पड़ा, सबसे समझौता करना पड़ा। इस्लाम के प्रवेश के बाद देश में मूर्ति पूजा के संबंध में

पुनर्विचार होने लगा। भक्तिधारा का उद्‌भव हुआ। जैनों में भी साकार पूजा को लेकर मंथन होने लगा। इस मंथन का पहला स्वर श्वेताम्बरों में सुनाई दिया, वह भी गुजरात में, कारण भी स्पष्ट था क्योंकि दिगम्बरों की तुलना में श्वेताम्बरों के मंदिरों का आड़म्बर, तामझाम, खर्चा ज्यादा था। मूर्ति की सजावट, मंदिरों की बनावट में सादगी को नहीं, भव्यता को प्रमुखता दी जाती थी। इसलिए अल्प साधन संपन्न व्यक्तियों को मंदिर के कार्यक्रमों में अधिमान मिलना शक्य नहीं रहा, वे हाशिए पर खड़े रहकर केवल द्रष्टा मात्र रहने लगे, अतः उनकी अरुचि होना स्वाभविक था।

ऐसी स्थिति में एक जैन श्रावक ने जैनों के श्वेताम्बर वर्ग में निराकार उपासना की धारा प्रवाहित की। इस श्रावक का नाम लोकाशाह (लोंकाशाह) था। उसने श्वेताम्बर मान्य सभी आगमों का अध्ययन किया था। उस अध्ययन के परिणाम स्वरूप वह कुछ निर्णयों पर पहुंचा।

I. भ. महावीर के द्वारा प्ररूपित आगमों में मूर्ति पूजा का विधान नहीं है।

II. मंदिरों से जुड़ा परिग्रह मुनियों के शिथिलाचार का प्रमुख कारण है।

III. मंदिरों से जुड़ी पूजा पद्धतियों-रथ यात्राओं में जैन धर्म के प्रथम सिद्धान्त अहिंसा की उपेक्षा होती है।

IV. मूल आगमों पर रचित टीका-व्याख्याएँ अपने मूल से काफी दूर जा चुकी हैं, इसलिए उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है, स्वतः सिद्ध नहीं है।

इन स्पष्ट निर्णयों को मन में निर्धारित करके लोकाशाह ने अपने विचारों को जैन समाज में प्रचारित करना प्रारंभ कर दिया। सन् 1451 में उन्होंने अपनी मान्यताओं के समर्थकों को एक गच्छ का रूप दे

दिया। लगभग डेढ़ हजार वर्ष से चली आ रही व्यवस्था से भिन्न प्ररूपणा करना बड़ा चुनौती पूर्ण कार्य था। प्रकारान्तर से ये एक प्रकार की बगावत थी, परन्तु लोकाशाह का आधार ठोस था, उन्होंने आगम की मूल धारणाओं की पूर्ण सुरक्षा की उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया, उनसे कोई छेडछाड़ नहीं की। चूंकि प्रतिमा पूजन, आगम युग में जैन धर्म का अंग नहीं रहा था। अतः लोकाशाह की प्ररूपणा में कोई नया प्रक्षेप नहीं था। हालांकि जैन समाज में प्रतिमा पूजन बिना किसी प्रतिरोध के प्रवेश पा चुका था तथा डेढ़ हजार सालों से निर्विवाद रूप से चला आ रहा था। इसलिए लोकाशाह की प्रतिपादनाएँ नई नज़र आती थी। फिर भी अपने अकाट्य तर्कों से लोकाशाह ने इस क्रांति की मशाल को देश के बहुभाग में पहुंचा दिया। उनके इस अभियान में एक धनाढ्य सेठ लखमशी का सहयोग मिलने से यह कार्य और गति पकड़ गया। देश क्रिया-काण्डों की बहुलता से ऊब चुका था इसलिए इस सादगी समर्थक मार्ग को काफी बड़ा अनुयायी वर्ग मिल गया। हाँ, संख्या के अनुपात से देखा जाए तो श्वेताम्बर संघ का कुल दस-बीस प्रतिशत वर्ग ही बड़ी मुश्किल से इस दिशा में मुड़ा था, पर इस छोटे वर्ग के अलगाव ने पहले गच्छ के रूप में और बाद में एक संप्रदाय के रूप में अपनी पहचान बना ली। इस विचार सरणी का अनुसरण करने वालों ने अपने सदियों सहस्राब्दियों पुराने विधि-विधान ही नहीं बदले, बल्कि मंदिरों-तीर्थों को दी गई दान राशि तथा उससे प्राप्त अधिकारों को भी तिलांजली दी इससे तीर्थों के विवादों से भी बचाव हो गया।

लोकाशाह की दृष्टि का फल केवल नए वर्ग के उद्भव के रूप में ही नहीं हुआ, प्राचीन वर्ग की चर्या में भी काफी अन्तर आया। मूर्ति को पूर्ववत् स्वीकारते हुए भी उन्होंने अपनी जीवन शैली में उल्लेखनीय परिवर्तन किया। लोकाशाह के नाम से तीन केन्द्रों का जुड़ाव बना, पहला था गुजराती लोकागच्छ, दूसरा नागौरी लोकागच्छ, तीसरा था लाहौर स्थित उत्तरार्ध लोकागच्छ।

लोकाशाह द्वारा जलाई गई यह मशाल सौ साल तक भव्य रूप से जगमगाई फिर 100 साल तक इसकी ज्योति मंद हो गई। उस मंदता का कारण बना-गादियों का बचे रहना। श्री लोकाशाह जी ने मंदिरों तथा मूर्त्तियों से तो पिण्ड छुड़वा दिया पर मुनियों का केन्द्रीय सत्ता से जुड़ाव फिर भी बरकरार रहा। इससे मुनि वर्ग फिर शिथिलता की ओर बढ़ चला। उस शिथिलता की जड़ता को तोड़ने में पांच महापुरुषों का विशेष योगदान रहा आ. श्री लवजी ऋषि जी म., श्री जीवराज जी म., श्री धर्म दास जी म., आ. धर्मसिंह जी म. तथा श्री हरजी ऋषि जी म.। इन पांचों महापुरुषों ने चारित्र क्रियोद्धार का बीड़ा उठाया। कठोरतम साधना के नए मानदण्ड स्थापित किए। चूंकि जैन समाज कठोर जीवन शैली को सदैव अधिमान देता रहा है, इसलिए ये महापुरुष समाज की दिशा मोड़ने में अतिशीघ्र सफल हो गए। इनके अभियानों से पूरे-2 इलाके तब्दील हो गए। जैन समाजों की श्रद्धा को तर्क-वितर्कों से बदलने की बजाय संयम की कठोरता से बदलना अधिक आसान रहा है। जैसे भद्रबाहु स्वामी के युग में स्थविर कल्प के आगे जिन कल्प को विशेष महत्व दिया गया, ऐसे ही इन महापुरुषों की उग्र साधना को देखकर जनमानस ने इनकी मान्यताओं को अपनाना शुरु कर दिया। तब से केवल 32 आगमों की मान्यता परिपक्व हुई। डोरे सहित मुंहपत्ती का प्रचलन हुआ। इससे पूर्व श्वेताम्बर मूर्ति पूजक मुनिराज हाथ में मुंहपत्ती को धारण करते थे, लेकिन क्रियाद्धार कर्त्ता मुनियों को मुंहपत्ती का हाथ में होना तर्कपूर्ण नहीं लगा। उन्होंने मुंहपत्ती में डोरा डाल स्थायी रूप से मुंह पर लगाने की प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित किया। टूटे पुराने मकानों (ढूंढों में) में रहने का रिवाज़ शुरु हुआ। उन्हीं महापुरुषों के अनुयायी कभी ढूंढिए, कभी बाईस टोला (बाईस पंथी) कहलाए तथा आजकल स्थानकवासी कहलाते हैं।

इस संप्रदाय में साधुओं की चारित्र पद्धति तो बदली ही, श्रावकों की धर्म-क्रियाओं में भी अन्तर आया। पहले गृहस्थ वर्ग मंदिरों

में पूजा-प्रक्षाल करके अपने धर्म की पूर्ति मानता था, अब उसने सामायिक-प्रतिक्रमण-पौषध और संवर की निरवद्य राह पकड़ी। वह भी मुनियों की तरह अधिकाधिक त्याग प्रत्याख्यान का अनुरागी बनने लगा। उनकी धर्म भावना को पुष्ट करने के लिए प्रतिक्रमण का पुनर्गठन किया गया। दैनिक चर्या के नियमन हेतु चौदह नियम और छब्बीस बोलों का अभ्यास डाला गया। मुनिवर्ग अपने अध्ययन के लिए आगमों की लिपिबद्ध प्रतियों को पुट्ठों में Pack करके साथ-2 वहन करते। लिपिकरण के लिए लिपिकारकों की सेवाएं लेनी बन्द हो गई, स्वयं ही लिखने की परम्परा डाल ली। वैतनिक पंडितों से पढ़ना निषिद्ध हो गया, इसलिए संस्कृत भाषा का अभ्यास भी लगभग बन्द हो गया। प्राकृत भाषा का ज्ञान भी व्याकरण नियमानुसार न होकर अभ्यास जन्य रह गया। एषणा समिति की शुद्धि पर सर्वाधिक बल दिया गया। निमित्त दोष से बचने की अत्यधिक जागरुकता आई। इन सूक्ष्म सावधानियों को देख-2 गृहस्थ वर्ग आश्चर्य चकित भी होता, श्रद्धान्वित भी। इन पांचों महापुरुषों तथा उनके शिष्यों ने आगमिक समाचारी के निर्वाहक के रूप में स्थानकवासी संप्रदाय को बुलन्दियों तक पहुंचाया।

चारित्रिक दृढ़ता की उदग्र लालसा में इस संप्रदाय का संगठनात्मक पक्ष उपेक्षित हो गया। इन पांचों महापुरुषों का परस्पर मिलन विशेष नहीं हुआ, न ही ये एकीकृत व्यवस्था बना सके। सब टोलियां अलग-2 ढंग से अपनी चर्या का पालन करती रही। केन्द्रीय व्यवस्था के अभाव में स्थानकवासी संप्रदाय कभी एक रूप नहीं बन सकी। गुरु-शिष्य परम्परा चली, तदनुसार श्रावकों का पृथक्-2 जुड़ाव बना। मुनिसंघ एक न बनने से श्रावक संघ भी एक नहीं बन पाया। एक समाचारी एक आचार्य न होने से पारस्परिक प्रतिस्पर्धाएं भी कहीं-2 कभी-2 उभरती रहीं। अपनी-2 संयम चर्या को कठोरतर सिद्ध करने की चेष्टाएं भी हुई। इस चेष्टा में मुनिमण्डल का साधना पक्ष निश्चित रूप से मजबूत होता गया। एक नया पहलू श्रावक वर्ग में पनपा। स्थावर काय के जीवों

की अहिंसा के प्रति संवेदनशीलता, जागरुकता और आग्रहवृत्ति बढ़ी। क्योंकि मूर्तिपूजा की अनागमिकता को सिद्ध करते-2 ये प्रचारित किया जाने लगा कि मूर्तिपूजा में दीपक जलाने, पुष्प चढ़ाने, स्नान कराने का प्रावधान है, ये सब क्रियाएँ हिंसा रूप हैं। हिंसा पूर्वक की गई धर्म क्रिया अधर्म बन जाती है, अतः मूर्ति पूजा पाप है।

यद्यपि मूल मुद्दा तो मूर्ति की आवश्यकता-अनावश्यकता का था, आगम-सम्मतता या आगम-असम्मतता का था पर विरोध के दौर में सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को Use किया गया। एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा, जो कभी मुनि जीवन का अंग था, धीरे-2 श्रावक जीवन से भी जुड़ गई तथा धीरे-2 ये धारणा बनने लगी कि एकेन्द्रिय हिंसा भी उतनी ही पापमय है, जितनी त्रस हिंसा। इस चिंतन का शुभ परिणाम तो ये आया कि कुछ निवृत्ति प्रधान श्रावकों का जीवन अत्यन्त त्यागमय हो गया, पर दुष्परिणाम भी आया कि त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा-अहिंसा की भेद रेखाएं जो आगम काल से स्पष्टतया अंकित थी— लुप्त हो गई। साधु और श्रावक दोनों की दौड़ स्थावर रक्षा की ओर बन गई एवं साधुओं की नियमावली श्रावकों पर लागू करने का प्रवाह चल पड़ा। इसी मुद्दे को लेकर सौ साल बाद सन् 1760 के लगभग स्थानकवासी (बाईस टोला) संघ में नया विभाजन हो गया। आ. धर्मदास जी म. की एक टोली में श्री रघुनाथ जी म. का नेतृत्व चल रहा था। उनके शिष्य श्री भीखण जी स्वामी (अद्यत्वे आ. भिक्षु) ने अपना अलग संघ निर्मित कर लिया। उनकी प्ररूपणा ये थी कि साधु हो या श्रावक दोनों को त्रस-स्थावर दोनों जीवों की हिंसा से बचना चाहिए। त्रस की रक्षा के लिए यदि स्थावर जीवों की हिंसा होती है तो ये रक्षा-दया भी पाप है। क्योंकि जीव-2 समान है। कुल मिलाकर किसी जीव की रक्षा-दया करना अपने आप में पाप है। 13 साधुओं तथा तेरह श्रावकों की प्रारंभिक पूंजी से चालू हुआ यह संप्रदाय 'तेरहपंथ' के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया फिर तेरह सद्गुणों को इस संघ का मूलाधार

दिया गया। समय प्रवाह के साथ तेरह पंथ 'तेरापंथ' कहलाया और तेरा अर्थात् भगवान का पंथ कहलाने लगा।

इसके विस्तार का माध्यम भी इस संघ के तत्कालीन मुनियों की अतिकठोर जीवन चर्या बनी। यद्यपि स्थानकवासी मुनियों का आचार काफी सख्त था, लेकिन इस नवोदित संघ के मुनियों ने अपनी सख्ती के आगे पूर्व परम्परा को फीका सा साबित कर दिया। अनचिन्हे नए इलाकों में घूम-2 कर अपनी मान्यताओं का प्रचार किया। जैसे लोकाशाह की विचारधारा को लवजी ऋषि सरीखे उच्चकोटि के आचार संपन्न साधकों ने आगे बढ़ाया, उसी प्रकार आ. भीखण की विचारधारा को जयाचार्य सरीखे कठोर संयमी साधकों ने व्यापकता प्रदान की।

स्थानकवासी परम्परा से पृथक् पहचान बनाने के लिए मुखपत्ती के आकार में स्वल्प परिवर्तन भी किया। स्थानकवासी परम्परा में मुहपत्ती 8x5 अंगुल होने से Vertical shape की (चौड़ी) थी तो उन्होंने 10x4 अंगुल की बनाकर Horizontal shape की (लम्बी) बना ली।

स्थानकवासी परम्परा का पुनर्जन्म गुजरात की भूमि पर हुआ तो तेरापंथ का उद्भव मेवाड़ राजस्थान की धरा पर हुआ। स्थानकवासी पुनरुत्थान (रैनासां) श्रावक केन्द्रित था तो तेरापंथ का उदय मुनि केन्द्रित। तेरापंथ के प्रारंभिक आचार्यों ने स्थानकवासी संप्रदाय में लंबे समय से चली आई एक दुर्बलता का निराकरण भी कर लिया। उन्होंने अपने संघ की केन्द्रीय व्यवस्था बना ली। एक आचार्य, एक समाचारी, एक प्ररूपणा। इस कारण ढाई सौ साल तक यह संप्रदाय अंखड रूप से प्रगति करता आया है जबकि स्थानकवासी संप्रदाय विविध विभाजनों की मार झेलता रहा।

लोकाशाह के युग में श्वेताम्बर परम्परा में एक और संप्रदाय उभरी थी जो मुश्किल से 100 वर्ष तक कायम रह सकी। उस संप्रदाय में संयम साधना की कठोरता की बजाय भक्ति पर बल दिया गया।

समग्र भारत में भक्ति की लहर चल रही थी। उस लहर का असर जैन समाज पर भी कुछ-2 आया। मारवाड़ (राजस्थान) के नाडलाई गांव का निवासी कड़वा शाह यों तो हिन्दू परिवार में जन्मा था परन्तु जैन आगमों के अध्ययन से जैन मुनि बनने की रुचि बनी। उसकी शर्तों के मुताबिक गुरु न मिलने से उसने ये धारणा बना ली कि मुनि बनने की आवश्यकता ही नहीं। उसने राजस्थान और गुजरात में घूम-2 कर जैन समाज में भक्ति की अलख जगाई। उसने मुनि दीक्षा का खण्डन किया। मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में मौन धारण किया। लगभग ईसवी सन् 1467 से चालू हुआ यह संप्रदाय एक शतक आयु पाकर विलीन हो गया।

ये सारे विभाजन श्वेताम्बर संप्रदाय के हिस्से में ही आए। दिगम्बर सम्प्रदाय काफी हद तक बड़े विभाजन से बचा रहा। अनेकानेक संघ दिगम्बर परम्परा में बने, मूलसंघ, काष्ठा संघ, द्रविड संघ, माथुर संघ आदि। लेकिन यह विस्तार के आकार में ढले, विभाजन के रूप में नहीं।

हाँ, ईसा की 13वीं सदी में वीसा पंथ का उदय अवश्य हुआ था। इस पंथ के मुनियों को भट्टारकों के नेतृत्व में रहने की हिदायत होती थी तथा इनके मंदिरों में तीर्थंकरों की प्रतिमा के साथ-2 क्षेत्रपालों की पूजा भी की जाती थी।

इस संप्रदाय का संशोधन परक रूप आया दिगम्बर तेरापंथ के नाम से, जिसका उद्भव संभवतः 1523 सन् के लगभग हुआ। सुधारवादी आंदोलन होने के कारण इस संप्रदाय के अनुयायी क्षेत्रपाल देवों की अर्चना नहीं मानते तथा तीर्थंकर की पूजा में सचित्त फल फूल चढ़ाना वर्जित कहते थे। इस संप्रदाय को अधिक बल दीवान अमर चन्द जी (ईसा 17वीं सदी) के आगमन से मिला।

दिगम्बरों में भी मूर्त्ति पूजा के विरुद्ध एक धीमी सी आवाज उठी। उसके उद्भावक श्री तारण स्वामी जी श्वेताम्बर लोकाशाह के समकालीन भी थे, उनसे प्रभावित भी थे, उसने भक्ति और शास्त्र

स्वाध्याय पर जोर दिया। उसने जातिवाद को भी अस्वीकार किया। इन्होंने सरस्वती मंदिरों की स्थापना की, जिनमें तीर्थंकरों की प्रतिमा की बजाय शास्त्रों की स्थापना की गई।

इस प्रकार के छिटपुट प्रयासों के बावजूद दिगम्बर परम्परा में एकरूपता बनी ही रही।

वर्तमान काल में भी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों में नए-2 चिन्तक सुधारक-संयमी-ध्यानी साधु और श्रावकों का आगमन हुआ है और उन्होंने नए लक्ष्य भी प्रदान किए हैं। उन्हें अनुयायियों की विशाल संख्या भी मिली है, फिर भी जैनों की चार संप्रदायों के अन्तर्गत ही वे समाविष्ट होते गए हैं।

गुजरात-मुम्बई-काठियावाड़ में श्री राय चंद भाई। (श्रीमद् राजचन्द्र) ने सन् 1867 के लगभग निश्चयमार्ग की ओर जनता का रुख मोड़ा। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ओर से उन्हें अनुयायी मिले। श्री राय चंद भाई भक्त कवि थे, अतः उनकी विचारधारा 'कवि पंथ' कहलाई। महात्मा गांधी जैसे राष्ट्रीय नेता रायचन्द भाई से गहराई तक प्रभावित थे। कालक्रम से रायचन्द जी के समर्थकों ने जिन मंदिरों का निर्माण किया, उनमें श्री रायचंद जी की प्रतिमा ही स्थापित कर दी।

दिगम्बर परम्परा को नवीन युग में झिंझोड़ने वाला एक और पंथ प्रारंभ हुआ, कानजी संघ। कानजी स्वामी पहले श्वेताम्बर स्थानकवासी संघ में दीक्षित हुए, वहाँ से उठे तो दिगम्बरत्व का दामन थामा, फिर वहाँ 'समयसार' का आधार लेकर 'निश्चय नय' का प्रखर रूप प्रस्तुत किया। जयपुर के टोडरमल स्मारक से प्रशिक्षित स्वाध्यायियों ने मुनियों के अस्तित्त्व तक को चुनौती दे दी। अभी तक तो दिगम्बरत्व को एक ही शाखा के रूप में माना जा रहा है, संभव है, आने वाला कल नई संप्रदाय के रूप में स्थापित कर दे।

श्वेताम्बर मूर्ति पूजक समाज इतना सुविशाल है कि इसमें विविधताओं का साम्राज्य है परन्तु किसी नई संप्रदाय का उद्भव इसमें नहीं हुआ। तेरापंथ संगठित एवं व्यवस्थित संघ होने से बिखरने से बचा ही रहा है। स्थानकवासी संघ प्रायः लोकतांत्रिक (Democratic) पद्धति से चलता रहा है। इसको भी एक सूत्र में आबद्ध करने के प्रयास हुए। सन् 1933 में अजमेर में स्थानकवासी संप्रदायों का संमेलन हुआ, जिसमें पारस्परिक निकटता बढ़ी। 1952 में सादडी (राजस्थान) में पुनर्मिलन हुआ तो एकीकृत श्रमण संघ का निर्माण हुआ। यह एकीकरण भी संपूर्ण नहीं हो सका। फिर एकीकृत संघ के कुछ घटक भी बाहर आ गए। इस तरह स्थानकवासी संघ का 1/3 भाग श्रमण संघ में तथा 2/3 भाग स्वतंत्र रहा। स्थानकवसियों में भिन्नता का एक मुद्दा विद्युत् उपकरणों के प्रयोग करने या न करने का है। प्रयोग कर्त्ता वर्ग को सुधारवादी तथा अप्रयोग कर्त्ता वर्ग को क्रियावादी (संयमी) विशेषण दे दिए गए। सुधार वादियों में से ही एक लघु भाग वाहन विहार का पक्षधर भी बना।

मूर्त्ति का बहिष्कार करके भी स्थानकवासी संप्रदाय का भावुक वर्ग पुनः मूर्त्ति की ओर आकर्षित हुआ है। गृहस्थ वर्ग तीर्थों की यात्रा तथा दर्शनों की ओर उन्मुख है तो कहीं-2 मुनिवर्ग भी अपने-2 गुरुओं की प्रतिमाएं स्थापित करने को उद्यत हैं। भग. महावीर स्वामी के स्थान पर सीमंधर स्वामी को, उनकी प्रतिमा को प्रमुखता देने की प्रवृत्ति भी मुनियों में बढ़ी है और श्रावकों में बढ़वाई गई है।

कहीं-2 संप्रदायवाद को समर्थन मिल रहा है तो कहीं-2 संप्रदायवाद को भुला व्यापक जैनत्व की सोच भी विकसित हुई है। 1975 में भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण पर्व के अवसर पर जैनों की चारों सम्प्रदायों का सामंजस्य इस दिशा में Turning Point बना। गृहस्थ वर्ग इन अर्थों में संप्रदाय-निरपेक्ष भी हुआ कि उसके वैवाहिक सामाजिक संबंध दायरे बंदी से बाहर जाकर भी स्थापित हुए हैं। त्यागी वर्ग भी पूर्वापेक्षया उदार हुआ है। यह संतोष जनक है।

2. चर्या की नज़र से जैन साधुत्व

जैन मुनियों की जीवन चर्या सदाकाल से जन-2 के लिए आश्चर्य, श्रद्धा और आस्था का केन्द्र बिन्दु रही है। इनके त्याग तप को सामान्य जन ने तो नमन किया ही है प्रतिपक्षी धर्मों ने भी तीव्र या मंद स्वरों में सराहा है। दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन की प्रारंभिक गाथाओं में लोक श्रद्धाओं की झलक मिलती है।

'नन्नत्थ एरिसं वुत्तं जं लोए परम दुच्चरं।
विउलट्ठाण भाइस्स न भूयं न भविस्सइ' ॥

"जैन शासन के अतिरिक्त किसी अन्य परम्परा में इतनी दुष्कर साधना प्रतिपादित नहीं की गई है। मोक्षार्थी आत्मा के लिए इस जैसा महामार्ग न पहले कहीं उपलब्ध हुआ, न भविष्य में होने की संभावना है।"

उत्तराध्ययन सूत्र के 19वें अध्ययन से मृगापुत्र अपने माता-पिता जी से मुनि बनने के लिए उनकी अनुमति मांगता है तो उन्होंने कई उपमाएं देते हुए कहा जैसे महासागर को भुजाओं से पार करना, मेरु पर्वत को तराजू पर तोलना, तलवार की धार पर चलना आदि कार्य कठिन है, उससे भी कठिन श्रमण (जैन श्रमण) बनना है 'तहा दुक्करं करेउं जे कीवेण समणत्तणं' क्लीब-दुर्बल-चचंल मन वाले व्यक्ति के लिए श्रमणत्व का पालन अत्यन्त दुष्कर है।

प्राचीन युग में सुविधाओं का बाहुल्य जन साधारण के पास भी नहीं था तथा इतर धर्म के सन्यासियों के पास भी अत्यल्प था। उस स्थिति में संभव है कि जैन मुनियों की कठोर नियमावलियां तुलना में अधिक कठोर न भी प्रतीत होती हों परन्तु वर्तमान युग में जहाँ गृहस्थ वर्ग के पास विज्ञान तथा Technology की बदौलत बेशुमार सुविधाएं

एकत्रित हो गई हैं तथा उसी अनुपात में जैनेतर सन्यासियों ने भी उन-2 सुविधाओं को जुटा लिया है, पर जैन मुनि अब भी वही ढाई हज़ार वर्ष पुरानी साधना पद्धति का, बहुत अंशों में पालन कर रहे हैं, इस तथ्य को देखने वाले तटस्थ व्यक्तियों के रौंगटे खड़े हो जाते हैं। ढाई हजार वर्ष पूर्व राजकुमार सिद्धार्थ गौतम चुपचाप घर से निकल जब सन्यास के पथ पर आया था तब कुछ अर्से तक जैन भिक्षु की साधना करने का उसने प्रयास किया था। लेकिन अति कठिन तपस्या करने से उनका शारीरिक संतुलन बिगड़ गया, मन शिथिल हो गया और उसने ये निर्णय किया कि मैं अति शिथिल तथा अति कठोर दोनों मार्गों की बजाय मध्यम मार्ग को अपनाऊंगा। महात्मा बुद्ध का सारा भार 'मध्यम मार्ग' की ओर रहा परन्तु जैन शासन ने प्रारंभ से ही उत्कृट मार्ग को Prefer किया, भग. महावीर के बाद विशेषतः।

जैन धर्म में आचरित साधना की कठोरता भी दो स्तरों तक पहुंची 1. Impossible असंभव 2. Very Difficult अति कठिन। जिनकल्प में पहले दर्जे की कठोरता रही तो स्थविर कल्प में दूसरे दर्जे की। पहले दर्जे की साधना की कुछ झलक दशाश्रुतस्कन्ध आगम में मिल जाती है। जहाँ 12 प्रतिमा धारण करने से पूर्व मुनियों को किन-2 शर्तों को पूरा करना होता है, का वर्णन मिलता है। कुछ बातें 1. वे किसी भी गांव में एक रात से अधिक नहीं ठहर सकते। 2. दिन में तीसरे प्रहर के किसी निश्चित समय पर भिक्षा के लिए जा सकते हैं। 3. रात्रियापन श्मशान, वृक्ष के नीचे या पर्वतों की गुफ़ा में करते हैं। 4. पैर में कांटा चुभ जाए तो निकालना नहीं, निकलवाना नहीं 5. आंख में धूल, मिट्टी, तिनका पड़ जाए तो निकालना-निकलवाना नहीं। 6. उन्मत्त सिंह, व्याघ्र आदि वन्य या पालतू पशु सामने आ जाए तो अपने बचाव के लिए दाएं-बाएं होना नहीं, आदि अनेक नियमों के प्रावधान उन पर लागू होते थे। इन नियमों की असंभवता के दृष्टिगत भग. महावीर के बाद दूसरे पाट पर विराजित श्री जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात् संघ ने ये निर्णय लेना

चाहा था कि जिनकल्प के Clause को scrap कर दिया जाए क्योंकि इसकी सब धाराएं भविष्य में पालनी असंभव हो जाएंगी। इस निर्णय को एक वर्ग ने तो स्वीकार कर लिया पर दूसरे वर्ग ने कुछ धाराएं निकालकर जिनकल्प चालू ही रखा। उक्त निर्णय के प्रति दो रवैय्यों ने दिगम्बर तथा श्वेताम्बर संप्रदायों की भूमिका का निर्माण किया।

दिगम्बर हों या श्वेताम्बर, जैन मुनियों के अधिकतर नियम समान हैं, मगर दिगम्बरों की कुछेक बातें जो outstandingly दृष्टिगोचर होती हैं तथा हैरत अंगेज भी हैं, उनमें पहली तो नग्नता ही है। वस्त्रों के अभाव में अत्यधिक शीत तथा अत्यधिक ग्रीष्म की मार को झेल पाना दुःशक्य किंवा अशक्य हो जाता है। वर्षा या सम शीतोष्ण मौसम में दंश मशक (डांस-मच्छर) का प्रकोप सहना भी उसी कोटि में आ जाता है। अपरिचित समाजों में नग्नता के कारण आक्रोश तथा वध परीषहों का पुनः-2 होना स्वाभाविक है तथा उन्हें झेल पाना नितान्त कठिन। दिगम्बर मुनियों की दूसरी कठिन बात है एक बार का भोजन– एगभत्तं च भोयणं, ठोस और तरल– किसी भी प्रकार का भोजन एक बार ही लेना एक चुनौती भरा काम है। भोजन का एक बार होना अति कठिन न भी गिना जाए पर तीव्र गर्मी में भी जल का तथा रोगादि की स्थिति में दवा का दोबारा न लेना कल्पना से बाहर चला जाता है। इसी कल्पनातीत मर्यादा को देख श्रद्धालु आकर्षित भी होते हैं। भोजन के लिए पात्र का न होना, खड़ी मुद्रा में आहार लेना भी अनेक कठिनताओं से जुड़कर चौंका देता है। इनके अलावा अन्य साधना बिन्दु तो दिगम्बर-श्वेताम्बरों के common हैं, वे भी अधुनातन युग की भौहों को चकित करने वाले हैं। सर्वप्रथम उन अठारह विधानों का आकलन करलें जो दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन में निर्दिष्ट किए हैं।

'वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहि भायणं।
पलियंक निसिज्जा य सिणाणं सोह वज्जणं' ॥

छह व्रत, छह कायों की रक्षा, अकल्पनीय, गृहस्थ-पात्र, पलंग, घर के अंदर बैठना, स्नान तथा शृंगार त्याग, ये अठारह बातें जैन मुनि की विशिष्ट पहचान हैं।

जैन मुनियों की जीवन चर्या को और अधिक व्यवस्थित करने के लिए पांच समिति तथा तीन गुप्तियों की प्ररूपणा की गई है, जो प्रत्येक प्रतिज्ञा, नियम और प्रण को स्थायित्व प्रदान करने वाली है।

दैनिक चर्या के रूप में दिन और रात को चार-2 प्रहरों में विभाजित करके प्रत्येक प्रहर की चर्या निर्धारित की गई।

पढमं पोरिसी सज्झायं, बिइयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं सज्झाओ पुण चउत्थम्मि ॥

पढमं पोरसी सज्झायं बिइए झाणं झियायइ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु सज्झाओ पुण चउत्थम्मि ॥

दिन के पहले प्रहर में साधु-साध्वी स्वाध्याय करें, दूसरे प्रहर में ध्यान करें, तीसरे प्रहर में भिक्षा लाएं और तथा चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करें। रात्रि के पहले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद तथा चौथे में स्वाध्याय का विधान है।

यद्यपि दिन और रात का यह रूटीन पूरी सख्ती से तो आजकल निर्वाहित नहीं होता पर काफी व्यवस्थित ढंग से साधकों का दिन-क्रम, रात्रि-क्रम चलता है। औसतन श्वेताम्बर परम्परा में आहार ग्रहण दो या तीन बार का तथा निद्रा काल 6 घंटे का माना जा सकता है। रात्रि के 10 बजे से प्रातः 4 बजे तक विश्राम करके साधक आत्म-चिंतन, माला जाप या स्वाध्याय का आलंबन लेते हैं। जो ध्यान के अभ्यासी हैं वे ध्यान में डूबते हैं। सूर्योदय से एक घंटा पूर्व प्रतिक्रमण किया जाता है। प्रतिक्रमण साधना के छह आवश्यकों का समूहबद्ध आचरण है। रात्रि में मन, वचन अथवा काया के माध्यम से अपनी स्वीकृत मर्यादाओं में

कुछ स्खलना हुई हो तो उसका संशोधन किया जाता है, खेद प्रकट किया जाता है, प्रायश्चित्त लिया जाता है तथा भविष्य में सावधान रहने का संकल्प लिया जाता है। सूर्योदय के साथ अपने वस्त्र-पात्र, रजोहरणादि की प्रतिलेखना की जाती है। प्रतिलेखना अपने उपकरणों की देखभाल तथा उपकरणों में असावधानी से रह गए छिटपुट जीव-जन्तुओं की रक्षा करने को कहते हैं। शारीरिक आवश्यक क्रियाओं से निवृत्ति के पश्चात् प्रातः कालीन अल्पाहार लाने की प्रथा भी प्रायः सर्वत्र चालू है। तदनन्तर समागत श्रद्धालुओं को धार्मिक प्रवचनों का लाभ भी दिया जाता है। बाद में शास्त्राध्ययन, ज्ञान वितरण आदि का प्रशस्त रिवाज है। मध्याह्न कालीन संपूर्ण आहार करके फिर यथा रुचि अध्ययन-अध्यापन, लेखन, चिंतन, शंका समाधान आदि किया जाता है। सायंकालीन भोजन सूर्यास्त के काफी पूर्व किया जाता है तथा सूर्यास्त से पूर्व ही अपने उपधि-उपकरणों (उपयोगी वस्तुओं) की प्रतिलेखना भी आवश्यकतम अंग है। सूर्यास्त होते ही पुनः प्रतिक्रमण किया जाता है। इसमें भक्ति, ज्ञान तथा चारित्र पोषक सभी तत्त्व सम्मिलित होते हैं। प्रतिक्रमण और शयन के बीच का समय भी आत्मरमण, प्रभुस्मरण में ही बिताया जाता है। जनसंपर्क, शासन प्रभावना, विहार यात्रा, श्रद्धालुओं की समस्याओं का श्रवण और निरवद्य निवारण भी मुनियों की दिनचर्या में शामिल है। कौन साधक अपनी भावनाओं को अध्यात्म में कितना झौंकता है ये व्यक्तिगत मामला है पर हजारों सालों से चली आ रही दिनचर्या न्यूनाधिक रूप में आज तक सुरक्षित है, ये गहन संतोष की बात है।

आओ, पहले महाव्रत अहिंसा की बहुमुखी पालना को ले लें। सर्वप्रथम तो तीर्थंकरों ने ही इस व्रत का विशद विश्लेषण कर दिया फिर उत्तरवर्ती युग के हर प्रमुख विचारक ने इस व्रत की नाना वीथियाँ खोल दी।

अहिंसा की विशुद्ध पालना के लिए सर्वप्रथम जैन मुनि को त्रस तथा स्थावर जीवों का ज्ञान आवश्यक है। चलने फिरने वाला कोई प्राणी पीड़ित और आहत न हो, ये सावधानी रखना ही बहुत कठिन कार्य है, फिर स्थावर जीवों की सुरक्षा करना तो और भी अति दुष्कर कार्य है।

महात्मा बुद्ध भी अहिंसा का उपदेश लेकर चले और भग. महावीर भी। जहाँ महात्मा बुद्ध के भिक्षुओं ने भारत भूमि में आपत् अवस्था में मांसाहार स्वीकार कर लिया और चीन, तिब्बत, वर्मा, थाईलैण्ड, जापान आदि देशों में सर्वदा के लिए मांस भक्षण खोल दिया, वहाँ भग. महावीर के मुनियों ने विदेशों में धर्म प्रभावना की आकांक्षा ही छोड़ दी ताकि अहिंसा महाव्रत सुरक्षित रह सके। पैदल यात्रा इसलिए अपनाई ताकि घोड़ा, बैल, ऊंट आदि की सवारी में उनको कष्ट न हो तथा उनके द्वारा खींचे गए वाहनों के नीचे कीड़े-मकौड़े आदि लघु जीव-जन्तु न मरें। उनके पैदल विहार को अधिक अहिंसक बनाने के लिए उन्हें पादत्राण रहित (barefoot) बनाया गया। नंगे पैरों में कांटे चुभें, ये बर्दाश्त; गर्म रेत और सड़क से छाले पड़ जाएं, ये मंजूर; तलवे ठिठुर जाएं, ये भी स्वीकार्य पर जूते चप्पलों की कठोरता से लघु जीवों की हिंसा मंजूर नहीं। जैन साधु इस अहिंसा को ईर्या समिति के सूक्ष्म पालन से अति निर्मल बनाए रखता है। जब चलता है तो नीचे जमीन को देखकर चलता है। हाँ, रात को अपनी हर गतिविधि को रोक देता है। न विहार, न आहार। क्योंकि अंधेरे में लघु जीव दिखाई नहीं दे सकते। अपने ठहरने की जगह गमनागमन करना पड़े तो वह अपने पास एक 'रजोहरण' नामक उपकरण भी रखता है— जिसे 'ओघा' भी कहते हैं। यह बड़े मुलायम धागों से बना झाड़ू (Broom) होता है। अंधेरे में चलना पड़े तो मुनि उससे भूमि को पौंछते हुए चलते हैं। वर्षाऋतु का भ्रमण, यात्राएं मुनि के लिए इसीलिए प्रतिबंधित की गई ताकि उन जीव-जन्तुओं का घात न हो जो उस ऋतु में बड़ी तादाद में पैदा हो जाते हैं।

मुनियों की भिक्षा चर्या में इस बात पर गौर किया जाता है कि किसी गर्भवती महिला, दुधमुहें बालक, याचना करने आए भिखारी, राह में खड़े पशु और पक्षी को असुविधा तथा कष्ट न हो।

जैन साधु-साध्वी की एषणा समिति के विविध नियमों में सर्व-प्रमुख नियम है कि वह अपने लिए भोजन-पानी, वस्त्र, पात्र, भवन आदि का निर्माण नहीं करता-करवाता। उसका प्रयास रहता है कि उसके लिए किसी ने श्रद्धावश कोई वस्तु बनाई है और उसे ज्ञात हो जाए तो वह स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि उस वस्तु की निर्माण प्रक्रिया में स्थूल या सूक्ष्म जीव-हिंसा होनी संभव है तथा बनाने वाले गृहस्थ के ऊपर कभी कभार भार भी बन सकता है। निर्भारता की दृष्टि से जैन संत शय्यातर का आहार नहीं लेता अर्थात् जिस व्यक्ति के घर वह ठहरता है उसके घर से स्वल्प मात्र भी आहार-पानी नहीं लेता। गृहस्थ को दान के पश्चात् नए सिरे से वस्तु निर्मित करनी पड़े इतनी अधिक सामग्री वह दाता से नहीं लेता। एषणा (याचना) का एक और पहलू ये है कि वह अपने पास मंगवाकर कोई वस्तु नहीं लेता, स्वयं ही कोई ले आए तो भी नहीं लेता। उसको कदम-2 पर प्रतिबंधक नियमों से गुजरना पड़ता है। आग पर रखी हुई, सचित्त जल और वनस्पति से छूती हुई भोजन सामग्री उसे नहीं लेनी। ये प्रतिबंध मुनिवर्ग ने धीरे-2 कम करने की बजाय अधिक भी बनाए। सचित वस्तु का अनन्तर स्पर्श (Direct touch) तो वर्जित किया ही किया, परम्परा स्पर्श (Indirect touch) भी प्रतिबंधित कर दिया। उदाहरणार्थ अंगीठी में अग्नि जल रही है, उससे कड़छी छुई हुई है, उस कडछी से किसी बहन की साड़ी छुई हुई है, उस साड़ी का एक छोर निकटवर्ती रोटी के डिब्बे से छू रहा है, उस डिब्बे से भी साधु रोटी नहीं लेता ये Indirect संघट्टा बहुत दूर तक टाला गया है। इन प्रतिबंधों को निभाने में साधु समाज को अपनी इच्छा और आवश्यकताओं का दमन करना पड़ता है।

अहिंसा व्रत को गहनता की ओर ले जाने में छह कायों की विचारणा का विशेष योगदान रहा है। भारत वर्ष के वैदिक ऋषि मिट्टी, पानी, अग्नि, वनस्पति का प्रयोग प्रचुर मात्रा में करते रहे थे, पर जैन संप्रदाय में इनका प्रयोग सर्वथा निषिद्ध कर दिया गया। हर क्रिया से पूर्व स्नान की अनिवार्यता तथा नदियों में गंगा-गोदावरी आदि में स्नान से पाप-प्रक्षालन मानने वाले देश में पानी का स्पर्श तक पाप मानना अद्‌भुत ही माना जाएगा। जैन मुनियों के लिए स्नान तो दूर कूए-बावड़ी-सरोवर का पानी पीना और छूना सर्वथा मना है। रात को पड़ने वाली ओस का स्पर्श भी न हो जाए इसीलिए सर्दी हो या गर्मी मुनि खुले आसमान में नहीं सोते, खुले में जाते समय सिर ढ़क लेते हैं। धुंध को भी महीन पानी मानकर उसका स्पर्श निषिद्ध किया गया है। धुंध में साधु साध्वी भिक्षा, विहार या प्रवचनादि नहीं करते। अपने ऊपर अंकुश लगाना मुनियों को पसन्द है पर जलीय हिंसा नही। भारत में वैदिक परम्परा की धार्मिकता का केन्द्र यज्ञ रहा यज्ञ में अग्नि को आहूति से तथा मंत्रों से पूजना धार्मिकता की सर्वोत्कृष्टता मानी गई, आरती में दीप जलाना, विवाह के समय अग्नि की साक्षी रखनी, जिस देश में हो उस देश में जैन साधु-साध्वियों ने अग्नि जलाने, अग्नि से शीत निवारण करने और रात को दीप जलाने को साधुता के विरुद्ध करार दिया। और युगों-2 के बाद भी इस नियम का परिपालन बदस्तूर चालू है। अल्पतम वस्त्र हों, कड़ाके की ठंड हो, फिर भी जैन संत आग नहीं सेकते।

वनवासी ऋषियों की शारीरिक आवश्यकता पूर्ति कन्द-मूल, फल-फूल पत्तों से होती थी। जैन मुनि भी पहले वन उपवनों में रहे, परन्तु उन्होंने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वन्य पदार्थों से नहीं की। उनकी आहार पूर्ति नगर से होती थी, रसोई में पकाया हुआ भोजन ही जैन मुनियों के लिए ग्राह्य रहा। विशुद्ध शाकाहार के प्रचारकों ने कभी अपने लिए फलाहार नहीं अपनाया। यद्यपि Medical Science के Dieticians के अनुसार Unboiled fruits सेहत के लिए उपयोगी

होते हैं पर सेहत से ज्यादा वनस्पति के जीवों की रक्षा को अहमियत देने वाले संतों ने Medical Science की भी उपेक्षा की। घास पर चलने की पाबन्दी के कारण कई बार मीलों-2 का रास्ता लंबा कर लेते हैं पर नियमों का उल्लंघन नहीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति के प्रति अति-संवेदनशील जैन मुनियों ने पर्यावरणीय सुरक्षा में सर्वाधिक योगदान दिया है। इन्होंने प्रत्यक्षतः इनका दोहन तो जीरो प्रतिशत किया है, अप्रत्यक्ष प्रयोग भी अत्यल्प किया है।

हाँ, जैन इतिहास में जल, अग्नि एवं वनस्पति के कुछ रूपों की सचितत्ता किंवा अचित्तता के मुद्दे पर कुछ विवाद उभरते रहे हैं और इसी वजह से चर्या में भेद एवं संघ भिन्नताएं होती रही हैं। विज्ञान तो केवल वनस्पति को ही जीवित मानता है, उसकी दृष्टि में पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु जीवित नहीं हैं, इसलिए विज्ञान से भी इस विषय में मदद नहीं मिल सकती। सर्वज्ञों के साक्षात् शब्द भी बहुत दूर तक नहीं ले जा रहे। क्योंकि उनके मूल शब्दों से इतनी ही सूचना मिलती है कि पृथ्वी आदि पांच तत्त्व जीवित हैं तथा शस्त्र परिणत होने पर अचित्त हो जाते हैं। इसके आगे सारा मैदान छद्मस्थों के हाथ में आ गया, उन्होंने अपनी-2 समझ के अनुसार स्थावर जीवों की शस्त्र-परिणतता घोषित की है। अतीत की तथा वर्तमान काल की एक संप्रदाय तथा दूसरी संप्रदाय की धारणाओं में सामंजस्य नहीं है। आज कहीं R.O. पानी, Mineral, filtered water को अचित्त मानने की धारणा बन गई, कहीं उष्ण जल को, कहीं राख से मंजे या धुले पानी को, कहीं चूने से मिश्रित पानी को, तो कहीं-2 पोचे के पानी को अचित्त मानने की मान्यता है इसलिए भिन्न-2 संप्रदायों के मुनि भिन्न-2 प्रकार का जल ग्रहण कर रहे हैं। सभी का लक्ष्य एक है कि हम सचित्त जल का सेवन न करें। छद्मस्थ की मजबूरी है कि अपनी मान्यता के Prism से ही सचित्तता या अचित्तता का निर्णय करता है। अग्नि की सचित्ताचित्तता का मामला विद्युत् उपकरणों के आविष्कार के बाद उलझा। किसी को

विद्युत का कोई भी रूप सचित्त नहीं लगा। किसी को कोई भी रूप अचित्त नहीं जंचा तथा किसी को करन्ट अचित्त तथा चमकता जलता हुआ रूप सचित्त प्रतीत हुआ। उन उपकरणों का उपयोग करने या न करने वाले स्वेच्छाचारी या आगमानुसारी नहीं हैं, क्योंकि दोनों की दृष्टि ये है कि हम सचित्त का सेवन नहीं करें। उन्हें 'विद्युत' सचित्त नहीं नज़र आती अतः प्रयोग कर रहे हैं। जिन्हें सचित्तता नज़र आई वे बच रहे हैं। वनस्पति विषयक चिन्तन भी अनेक दिशागामी हुआ। केला, बादाम किशमिश आदि कुछ Fruits, Dry fruits का सेवन किसी संघ में अनुमत हुआ तो किसी में प्रतिषिद्ध। जिन संघों के निर्णायक मुनियों को लगा कि ये फल जीवन शक्ति युक्त हैं, उन्होंने इनके ग्रहण पर Ban लगा दिया, अन्य संघों को लगा कि ये निर्जीव हैं तो उन्होंने ग्रहण पर Ban हटा लिया। इस विषय को लेकर बड़ी-2 शास्त्र चर्चाएं चली, ग्रंथ लिखे गए पर ध्येय यही था कि हम सचित्त वनस्पति की हिंसा से बचें। जिस भी स्तर पर सचित्तता सजीवता की संभावना समझ में आ गई, वहीं से मुनियों ने कदम पीछे हटा लिए।

हवा को जीवित मानने वाले जैन धर्म की दो संप्रदायों के (स्थानकवासी एवं तेरापंथी) मुनि अपने मुख पर आठ तह का वस्त्र (मुंहपट्टी) इसलिए रखते हैं ताकि वायु-जीवों को आघात न लगे। पृथ्वी को जीवन्त मानने के कारण नमक को भी छूने की मनाही है, क्योंकि नमक भी जीवन्त मिट्टी मानी गई। अहिंसा के विस्तार के तौर पर अपरिग्रह महाव्रत भी जैन साधकों की अद्वितीय पहचान रही। इनके अधीन न कोई भवन होता है न ही किसी प्रकार की जायदाद। विशाल मंदिर, स्थानक, उपाश्रय या भवनों में रहकर भी कभी उनका स्वामित्व मुनियों के पास नहीं होता। धन, रत्न, स्वर्ण की तो बात ही क्या, अपने अधिकार में एक लोहे की कील भी नहीं रखते। किसी स्थान पर रहना हो तो संस्था या घर के सदस्यों की अनुमति लेकर ही प्रवेश करते हैं। दिगम्बर मुनि वस्त्रों को परिग्रह मानकर उन्हें अपने पास नहीं रखते पर श्वेताम्बर

मुनि अत्यल्प रखते हैं, वस्त्रों को एक सुनिश्चित प्रमाण में रखते हुए प्रयास करते हैं कि वस्त्र बहुमूल्य भी न हों, चमकीले-भड़कीले भी न हों तथा उठाने लायक हों, किसी गृहस्थ से उठवाने की नौबत न आए। उन वस्त्रों के अंतिम धागे तक का प्रयोग करते हैं। जब तक जरूरत नहीं तब तक रुमाल जितना वस्त्र भी नहीं लेते। उनकी विहार यात्राएं निरन्तर चलती रहती हैं इसलिए अतिरिक्त वस्त्र रखना भी उनके लिए संभव नहीं होता। सर्दी और गर्मी दोनों मौसमों में उनके उपधि-उपकरण एक ही होते हैं; पात्र भी केवल न्यनूतम, आहार पानी को लाने वास्ते होते हैं। संग्रह करके रखने का प्रावधान इनकी जीवन शैली में नहीं होता। प्रातःकाल लाया हुआ जल या भोजन रात तक तो क्या सायंकाल तक भी रखना निषिद्ध है। मात्र तीन प्रहर तक संग्रहण की अनुमति है, इससे अधिक काल की नहीं। रात्रि को भोजन पानी सेवन करना तो प्रतिबंधित है ही, उसे अपने पास रखना भी संन्यास विरुद्ध है। शक्कर का एक दाना, घी की एक बूंद या भोजन सामग्री की स्वल्पतम मात्रा यदि मुनि अपने पास रख ले तो उसे प्रव्रजित नहीं 'गृहस्थ' कहा जाए, ऐसा आदेश दशवैकालिक सूत्र में दिया है। 'गिही पव्वइए न से' साधु मर्यादा में जब रात को पानी का एक कतरा भी रखना मना है फिर आटा, दाल, शाक-सब्जी, नमक, मिर्च मसाला रखने की कहाँ गुंजाईश है। अगले दिन की चिंता से मुक्त होता है जैन मुनि।

मुनि के पास वस्त्र पात्र आदि बिल्कुल थोड़े होते हैं, उन्हीं से उसे गुजारा करना होता है। ऐसा नहीं है कि वे कुछ देर के लिए गृहस्थ के पात्रों का प्रयोग कर लें या उनमें भोजन कर लें। पहली बात तो ये कि श्वेताम्बर परम्परा के मुनि गृहस्थ के घर पर बैठकर भोजनादि करते ही नहीं, दूसरी बात ये कि यदि गृहस्थ के बर्तनों में वे आहार करेंगे तो बाद में बर्तनों के मांजने धोने की प्रक्रिया में जो आरंभ समारंभ (हिंसा) होगी, उसका दायित्व मुनि पर आएगा। उनके प्रत्येक आचरण, विधि-विधान के पीछे गहरा चिंतन और दर्शन होता है। गृहस्थों के साथ अधिक संपर्क

न बढ़े इसी कारण वे गृहस्थ के घर पर, उनके पलंग, कुर्सी पर बैठते भी नहीं हैं। भिक्षा आदि कारण से वे किसी के घर जाते अवश्य हैं पर भिक्षा लेने में जितना समय लगता है, उतनी देर खड़े रहते हैं। उसके अलावा बैठना, वार्तालाप करना इनके नियमों में सम्मिलित नहीं है।

विश्वभर के महात्माओं से विपरीत अस्नान का व्रत भी बड़ा विलक्षण है। विश्व के प्रायः सभी धर्मों में धर्म क्रियाओं से पूर्व स्नान अत्यावश्यक माना जाता है जबकि जैन मुनि इसे हिंसाकारक मानकर सर्वथा छोड़ते हैं। भारत जैसे उष्णता प्रधान देश में ग्रीष्म के मौसम में स्नान न करना बड़ा दुष्कर कार्य है। स्नान से जुड़ा हुआ अन्य नियम है शृंगार-सजावट न करना। इस नियम का सीधा संबंध ब्रह्मचर्य से जोड़ा गया है। इस नियम के पालन में कुछ संप्रदाय तो इतने सख्त हैं कि उन्होंने सादगी और मलिनता को एक मानकर वस्त्रों का प्रक्षालन (साबुन आदि से) तक बन्द कर दिया। हाँ, जो संप्रदाय साधनों की सहायता लेकर वस्त्र प्रक्षालन करते हैं उनका ध्येय भी मल निवृत्ति होता है, विभूषा या सजावट नहीं। ब्रह्मचर्य महाव्रत की सुरक्षा के लिए विस्तृत नियमावली बनी है और उसका तत्परता से पालन भी होता है। जैसे कि मुनि वर्ग नवजात कन्या से लेकर अत्यन्त जरा जर्जर महिला का स्पर्श नहीं होने देता तथा साध्वी वर्ग पुरुष स्पर्श से सौ फीसदी बचता है। जिस भवन में साधु ठहरे हों, वहाँ सूर्यास्त के पश्चात् नारी प्रवेश तथा साध्वी उपाश्रय में पुरुष प्रवेश विवर्जित है। साधु ऐसे Mat को भी नहीं छूता जिस Mat पर सौ फीट की दूरी पर नारी बैठी या खड़ी हो। अकेली महिला से साधु वार्तालाप नहीं करता, अकेले पुरुष से साध्वी नहीं करती। भड़कीले चित्र और संगीत काव्य से दूर रहना जैन साधुओं की सहज चर्या है। दर्शनीय स्थलों पर जाना, उन्हें निहारना उसी तरह निषिद्ध है जिस तरह सुसज्जित नारी के अंगोपांगों को निहारना। विज्ञान के सर्वसुलभ साधन दूरदर्शन को देखने की मनाही के पीछे ब्रह्मचर्य व्रत अहम कारण है। इन्द्रियों की चंचलता तथा मन की विक्षिप्तता को

बढ़ाने वाले सभी साधनों को तिलाञ्जलि देने को तत्पर मुनियों ने हर तरह के खेल स्वयं खेलने तथा औरों के देखने छोड़े हुए हैं। पुराने युग में मनोरंजन के लिए यदि चौपड़ शतरंज पर पाबंदी थी तो आधुनिक युग में हॉकी, क्रिकेट, कैरम, ताश, टैनिस आदि पर भी पूरी पाबन्दी है। घ्राणेन्द्रिय की तृप्ति के लिए पुष्प मालाएं ही नहीं इत्र, सैण्ट, धूप, अगरबत्ती का प्रयोग भी पूर्णतः विवर्जित है। अपना चेहरा दर्पण में देखना ही निषिद्ध है तो Make up कैसे अनुमत हो सकता है।

साधु चर्या के कठिन नियमों को Shortlist करते हुए उत्तराध्ययन के 19 वें अध्ययन में लिखा है–

'कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ य दारुणो,
दुक्खं बंभव्वयं घोरं धारेउं महप्पणो।'

अर्थ– जैन महात्माओं को भिक्षा में इतना रूखा सूखा आहार लेना पड़ता है मानो कबूतर को पत्थर खाने पड़ रहे हों, उसे अपने केशों का लोच करवाना पड़ता है चाहे कितना ही कष्टप्रद हो तथा ब्रह्मचर्य की कठिन साधना उसकी कसौटी होती है।

इन तीन कठिन चर्याओं में 'केश लोच' शारीरिक कष्ट सहने का उत्कृष्ट नमूना है। साधु-साध्वी को छह माह बाद अपने सिर के बाल उखड़वाने होते हैं। दाढ़ी-मूंछ के नाजुक भाग वाले बालों को हाथों से खींचकर निकालना सहनशीलता की इन्तहा होती है, मगर जैन साधना की ये विशेषता है कि मुनि मंडल बिना पलक झपकाए इनका लोच करवाता है। धैर्य और स्थैर्य के प्रतीक इस अनुष्ठान का जैनों की चारों संप्रदायों में प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक निष्ठापूर्वक पालन हो रहा है।

अपने स्वीकृत नियमों का पालन करते-2 मुनियों के जीवन में अनेक प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल बाधाएं उपस्थित होती हैं जिन्हें अनाकुल

भाव से झेलना होता है। उन बाधाओं को जैन शास्त्रों में 'परीषह' कहा जाता है तथा उनकी संख्या 22 बताई गई है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि ग्यारह कष्ट तो सीधे तौर पर शरीर को विचलित करते हैं तथा याचना, अलाभ, आक्रोश आदि ग्यारह परीषह मन को उद्वेलित करते हैं। अज्ञात क्षेत्रों में अनजान मानवों द्वारा दी गई प्रताड़नाओं, भर्त्सनाओं को मुनि प्रतिकार-प्रतिशोध की भावना से मुक्त होकर सहन करते हैं। रोग-व्याधि से पीड़ित होने पर या तो चिकित्सा से बचने का प्रयत्न रहता है या निर्दोष चिकित्सा का आश्रय लिया जाता है, लेकिन न तो आतुर होकर विलाप किया जाता है, न मुख्य नियमों की उपेक्षा करके उपचार करवाया जाता है।

संयम साधना के शत सहस्र विधि निषेध रूप नियमों का पालन करते हुए भी अधिकतर जैन साधु-साध्वी नाना प्रकार की तपस्याएं भी करते रहते हैं। इनकी तपस्या के आंकड़े चौकाने वाले होते हैं। बारह महीने में 6-7 मासखमण (महीने भर तक निराहार रहना) के अभ्यासी साधु-साध्वी आज भी जैन शासन में हैं। निरन्तर बेले-तेले करने वाले मुनि भी हैं। एकान्तर तप करने वालों की संख्या तो बहुत अधिक है। एक दिन आहार का त्याग करके दूसरे दिन आहार करना एकान्तर है। दो दिन निराहार रहकर तीसरे दिन आहार करना बेला तथा तीन दिन बाद आहार करना तेला तप है। यदि किसी की शारीरिक क्षमता इस तरह निरन्तर तप की अनुमति नहीं देती तो भी प्रत्येक साधक का प्रयास रहता है कि चातुर्मास के दिनों में स्थिरता का लाभ लेते हुए पांच दिन, आठ दिन की तपस्या अवश्य कर लें। जैन तपस्या विधि की ये विशेषता है कि तप के दौरान केवल उबला हुआ जल ही ग्रहण किया जा सकता है, अन्य कोई खाद्य या पौष्टिक पदार्थ नहीं। कुछ साधक आयम्बिल तप की दीर्घकालीन साधना भी करते हैं, जिसके अन्तर्गत दिन में केवल एक बार एक अन्न और जल लेने का प्रावधान होता है। वह अन्न नमक, मीठा, चिकनाई से रहित होना आवश्यक है तथा

वह अन्न उबला या भुना हुआ हो सकता है। इसी तरह बहुत संख्या में साधु-साध्वी मिष्ठान्न, नमकीन आदि स्वाद प्रधान पदार्थों का त्याग कर देते हैं। कुछ दूध, दही, घी आदि विगयों (Animal Products) को भी त्याग देते हैं। गर्मी में धूप की आतापना तथा सर्दी में शीत लहरों का सामना करने का साहस भी अनेक मुनिराज करते हैं। विविध प्रकार की तपस्याएं करना Compulsory तो नहीं है पर संयम पथ पर चलते-2 तप के प्रति रुचि बन ही जाती है। इसलिए अधिकांश जैन मुनि तप की और अग्रसर पाए ही जाते हैं। इनकी तपस्या का उत्कृष्ट रूप संलेखना संथारे में दृष्टिगोचर होता है। जैन साधक-साधिकाओं की मानसिक धारणा होती है कि हमारी जिंदगी भर की संयम साधना तथा तपस्या का सार तभी अधिगत होगा जब हमारी अंतिम वेला संथारे में व्यतीत होगी। दीक्षा लेने के प्रथम दिन से वे भावना भाने लगते हैं कि हमें मरते समय संथारा उदय में आए। इस विचारधारा के निरन्तर पुनरावर्तन से ये संभावना बन जाती है कि कुछ जागरूक आत्माएं मृत्यु से पूर्व आहार त्याग करके समाधि पूर्वक शरीर त्याग कर लेती हैं। समय-2 पर ऐसे उग्र संथारों की घटनाएं जन-2 में चर्चित होती रहती है। कहीं-2 ऐसे संथारों का विरोध भी हो जाता है जो कि अज्ञता जन्य है। बहुलतया, सामान्य मानव संथारे को तप का सर्वोच्च रूप मानकर नमन करता आया है।

त्याग, संयम-तपस्या एवं साधना के उपर्युक्त सभी उदाहरणों को जानकर शायद ये भी प्रतीत हो सकता है कि जैन-धर्म का मुख्य लक्ष्य देह दमन मात्र है। शरीर की मूलभूत आवश्यकताओं को न्यून या शून्य करना ही जैनत्व की पहचान है। लेकिन नहीं, जैन धर्म का मुख्य ध्येय तो आध्यात्मिक सुख की उपलब्धि है तथा उसकी प्राप्ति के लिए मानसिक दोषों के निराकरण करने की कला सिखाई जाती है। जिन साधकों ने अपनी मनोवृत्तियों का संशोधन कर लिया है वे शरीर की आवश्यकताओं से निरपेक्ष हो जाते हैं। ऊपर वर्णित किए गए नियम

मनोविजेता योगियों के सहज प्रतिफल हैं। ये नियम थोपे हुए नहीं होते अपितु अन्दर की साधना से उत्पन्न होते हैं। मनोविजय को प्रमुखता देने के लिए ही जैन शास्त्रों में भिक्षु-भिक्षुणियों को प्रतिज्ञाबद्ध करते समय शपथ दिलाई जाती है– **'न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि मणसा-वयसा-कायसा'** मैं पाप-पूर्ण कार्य न करूंगा, न करवाऊंगा, न करने वाले को सहयोग दूंगा मन से, वचन से तथा काया से। इस प्रतिज्ञा में सर्वप्रथम मन की स्वीकृति मान्य की है। यदि अशुभ कार्य से निवृत्ति मन से नहीं हुई; केवल वचन और काया से हुई है तो जैन धर्म ने उसे 'द्रव्य क्रिया' कहकर निरस्त कर दिया है।

अहिंसा-अपरिग्रह-ब्रह्मचर्य यदि केवल शारीरिक स्तर पर ही पाले जाते हैं तो साधना क्षेत्र में उनका मूल्य शून्यवत् माना जाता है। यदि इनका पालन मन के धरातल पर नहीं हो रहा तो ये अज्ञानकष्ट या अकाम निर्जरा की कोटि में डाल दिए जाते हैं। अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पालना के साथ सत्य और अस्तेय आदि महाव्रतों की आराधना को इसलिए जोड़ा गया है कि कहीं अहिंसा की बाहरी दौड़ में अन्दर की सत्य ज्योति उपेक्षित न हो जाए, ईमानदारी के प्रति दृष्टि ओझल न हो जाए। सत्य और अस्तेय मुख्यतः आभ्यन्तर धर्म हैं। ये अहिंसा आदि अन्य धर्मों को प्राणवान् बनाए रखते हैं।

स्वामी की अनुमति के बिना ये मुनि दांत साफ़ करने के लिए तिनका भी नहीं लेते। इनकी प्रामाणिकता और नैतिकता को समझने के लिए ज्ञातव्य है कि यदि कोई युवक या युवती तीव्र वैराग्य भावना से ओतप्रोत होकर इनके पास दीक्षित होना चाहे तो ये पहले उसके परिवार जनों की सहर्ष अनुमति लेते हैं, बाद में उसे अपने संघ में सम्मिलित करते हैं। जब तक परिवार की अनुमति नहीं मिलती तब तक जैन दीक्षा संभव नहीं है। ये नैतिकता की पराकाष्ठा है।

इसके अलावा कषाय-मंदता, कषाय विजय सदा से जैन धर्म का मुख्य उद्घोष रहा है। **"केशाः किमपराध्यन्ति क्लेशानां मुण्डनं कुरु, सकषायस्य चित्तस्य काषायैः किं प्रयोजनम्"** हे साधक, केशमुण्डन की बजाय क्लेश मुण्डन की तरफ ध्यान दे, ये चिंता न कर कि तेरे वस्त्र गेरुए हैं या सफेद, तुझे तो अपनी कषायों की ओर ध्यान देना है।

यदि संयम, तप, ज्ञान, ध्यान की बाह्य उच्चताएं बढ़ाकर संत ने अपना अहंकार बढ़ा लिया तो वह पतन का राही बन गया है, ऐसी हिदायत कदम-2 पर दी गई है। उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन में पहली शिक्षा ही विनय– अहं मुक्ति – की दी गई है। इन्हीं प्रेरणाओं के परिणाम स्वरूप उच्चकोटि के विद्वान् तपस्वी तथा संयमी साधक अत्यन्त विनम्रता का जीवन जी पाते हैं। संयम तथा तप की आराधना को भौतिकता से पूर्णतः पृथक् रखने तथा शत-प्रतिशत अध्यात्मपरक बनाए रखने के लिए शास्त्रीय आदेश भी बड़े कारगर सिद्ध हुए हैं, जिन पर चलने का प्रयास ये संत जन करते हैं। दशवैकालिक-सूत्र के नौवें अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में बड़ी सख्त हिदायत दी है कि साधक चाहे संयम का पालन करे चाहे तप का, उसका लक्ष्य इस लोक के पदार्थों की प्राप्ति न हो। ये हिदायत इसलिए आवश्यक थी क्योंकि पूर्वकाल में कुछ धर्म संघों में राज्य प्राप्ति, संतान कामना, वैभवाभिलाषा या रोग मुक्ति आदि के लिए साधना तथा तपस्या करने का रिवाज रहा था। पुत्रेष्टियज्ञ, चक्रवर्तित्व के लिए अश्वमेध यज्ञ करने की कहानियां सर्व विख्यात हैं। परन्तु जैन धर्म ने अपने मुनियों के लिए लौकिक फल की प्राप्ति के लिए संयम-तप का निषेध कर दिया है। इसी प्रकार मृत्यूपरान्त स्वर्ग प्राप्ति या अन्यान्य मांगों को भी आगमकारों ने हेय घोषित कर दिया। यही कारण है कि जैन साधक उन प्रवञ्चनाओं के चक्करों से भी मुक्त रहते हैं। इससे भी आगे इन्हें कहा जाता है कि तुम्हें यशः कीर्ति, मान प्रतिष्ठा, नामैषणा, लोकैषणा जैसे सूक्ष्म शल्यों की पूर्ति के लिए भी संयम तप नहीं अपनाना। इन

मुनियों का हर पल प्रयास रहता है कि मन की इन लुभावनी मांगों के तहत कोई धर्म क्रिया न की जाए। इनके प्रत्येक कार्य का केन्द्र बिन्दु 'निर्जरा' होती है। निर्जरा का अर्थ है मौजूदा कर्मों की समाप्ति और इसका भावार्थ है, जीवन में व्याप्त स्थूल या सूक्ष्म दोषों का निःशेषीकरण या अल्पीकरण। ये मुनिराज निरन्तर आत्मनिरीक्षण करते रहते हैं कि क्या संयम और तप के धारण करने से पूर्व मेरे मन के स्थूल-सूक्ष्म स्तरों पर जो दोष थे, वे कम हुए या नहीं। यदि कम हुए हैं तो मेरी साधना सही पथ पर चल रही है और यदि साधना प्रारंभ करने से पूर्व विद्यमान दोष दुर्गुण पूर्ववत् हैं या बढ़े हैं तो मेरी निर्जरा नहीं हुई अपितु नवीन कर्मबंध हो गया। कर्म बंध अर्थात् कषाय वृद्धि से अपने को बचाना इनका परम साध्य होता हैं।

जीवन के अंतिम पड़ाव पर संलेखना संथारे को भौतिकता से Full Proof करने के लिए शास्त्रकारों ने पाबन्दी लगा दी है कि इस लोक की वस्तुओं की आशंसा इच्छा नहीं करनी तो अगले जन्म में मिलने वाली वस्तुओं की कामना भी नहीं करनी। जीवन और मरण की कामना नहीं करनी तथा इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति की इच्छा भी नहीं करनी। केवल आत्मानुभूति, प्रभुभक्ति तथा धर्माराधना पर ही चित्त वृत्तियों को केन्द्रित रखना वास्तविक संथारा है। शरीर, संसार, परिवार से निरपेक्ष रहकर केवल आत्मा में डूबते-2 जीवन से विदा लेने वाले जैन साधकों की दीर्घसूची इनके उज्ज्वल जीवन तथा पंडित मरण की कहानियों को अपने में समेटे हुए हैं।

जैन संत अनुग्रह और शाप दोनों प्रकार की भावनाओं तथा भाषाओं से पृथक् रह मध्यस्थ-तटस्थ जीवन व्यतीत करता है। जो व्यक्ति इन्हें वंदना नहीं करता उससे ये कुपित नहीं होते तथा जो वंदना करता है, उस पर प्रसन्न नहीं होते। हजारों सालों के इतिहास में किसी जैन संत ने अपकारी को शाप नहीं दिया तथा सेवा करने वाले को वरदान नहीं दिया। अपकारी को अपने दुष्कर्मों से दुःख मिला हो तथा सेवाभावी

को अपने सत्कर्मों से सुख मिला हो, ये बात अलग है पर मुनियों ने ऐसा कभी नहीं चाहा और कहा। इसलिए जैन मुनियों की भाषा आशीर्वादात्मक भी नहीं होकर प्रेरणात्मक ज्यादा होती है। कुछ मुनिराज धर्मलाभ कहते हैं तो कुछ 'दया पालें' का संदेश देते हैं तो अन्य केवल स्वीकृति सूचक 'जी भाया' आदि कह देते हैं।

जैन मुनि अपने सांसारिक परिवार जनों के सुख दुःख से अप्रभावित रहकर समस्त समाज को अपना परिवार मानता है। रागवर्धक या रागसूचक शब्दों के प्रयोग से भी बचता है। चाचा, मामा, पिता, दादा-दादी, ताई, बुआ आदि संबोधन उसके मन से तथा होठों से विदा ले चुके होते हैं। मां-बहन-भाई जैसे साधारण-संबंध बोधक या सीधे नाम या विशेषणों का प्रयोग कर वे जनता को संबोधित करते हैं।

'गिहि संथवं न कुज्जा' गृहस्थों से इतना परिचय नहीं करते कि राग या मोह बंधन बन जाए। उनका ध्येय बड़ा उदात्त होता है, उन्हें इस तरह की Training दी जाती है कि तुम्हें राग तो अपनी संप्रदाय या गुरु से भी नहीं करना क्योंकि ये राग भी मोक्ष यात्रा में उसी तरह बाधक बनता है जिस प्रकार प्रथम गणधर का भगवान महावीर से राग उसके केवलज्ञान प्राप्ति में बाधक रहा। उसका अधिक समय ध्यान, आत्म-चिंतन, स्वाध्याय और मौन में व्यतीत होता है। यद्यपि वह समाज और जनता के बीच भी रहता है, पर उसका अन्तर्मानस सबसे ऊपर रहकर अध्यात्म लोक की यात्रा करता है। उसकी सोच संकीर्ण संप्रदायिकता से बंधी नहीं होती। अधिकतर जैन मुनियों के प्रवचनों में जैनेतर धर्मों, गुरुओं एवं ग्रंथों की उपयोगी शिक्षाओं को उद्धृत किया जाता है। उसका दृष्टिकोण बड़ा Cosmopolitan और Non-sectarian होता है। उसके सर्वग्राही चिंतन के पीछे जैन धर्म के अनेकान्तवाद का बहुत बड़ा हाथ है। श्रमण भगवान महावीर से आज तक जैनों के सभी प्रमुख लेखकों ने समन्वयी भावना रखी है। जैनाचार्यों का अमर उद्घोष रहा है– **"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु,**

युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः" हमारा भगवान महावीर से राग भाव नहीं है तथा कपिल-कणाद गौतमादि से द्वेष नहीं है जिसके वचन युक्तिसंगत हों उसी को स्वीकार कर लेना चाहिए।

यही उदार चिंतन उतरते-2 'मेरी भावना' के प्रथम पद में भी उतर आया है–

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का निःस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध वीर जिन हरि हर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो ॥

विश्व में एक मात्र जैन आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ही ऐसे संत हुए हैं जिन्होंने किसी भी प्रकार की आलोचना किए बिना भारत के छह दर्शनों की (Six Schools of Philosophy) अपने महान् ग्रंथ 'षड्दर्शन समुच्चय' में प्रतिपादना की है।

जैन मुनियों ने अपने अनुयायियों को किसी धर्म या राष्ट्र के विरूद्ध भड़काकर वातावरण को उत्तेजित नहीं किया। इसी कारण जैन समाज सदा शांति प्रिय तथा राष्ट्र हितैषी रही है। जैन मुनियों के उपदेशों के परिणाम स्वरूप ही जैन समुदाय ने मुख्य धारा से कभी बगावत नहीं की, राष्ट्र निर्माण के हर पड़ाव पर जैनों की मुख्य भागीदारी का कारण ये रहा है कि इनके गुरुओं का ध्येय निर्माणात्मक रहा है, ध्वंसात्मक नहीं।

सामाजिक परम्पराओं के निर्वाह तथा पारिवारिक संबंधों के संरक्षण के प्रति भी जैन मुनि सदैव जागरुक रहे हैं। यदि जैन समाज अपनी स्वस्थ नीति-रीतियों को निभाता रहा है और परिवारों में पारस्परिक प्रेम बना रहा है तो ये इन संतों की कृपा की वजह से ही हुआ है।

इनके संपर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति कुछ व्यक्तिगत और सामाजिक बुराईयों से जरूर बचता है। मद्य-मांस के सेवन, शिकार,

जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि दोषों से जनता को मुक्त करना जैन संतों की उपदेश धारा का प्रथम बिन्दु होता है तथा इसके सत्परिणाम भी सदैव दृष्टिगोचर हुए हैं। इनके निर्देशों को मान्य करने वाले भक्तजन दान, सेवा, परोपकार आदि सार्वजनिक शुभ कार्य भी करते हैं तथा सामायिक, पौषध, तपस्या, पूजा-पाठ आदि व्यक्तिगत धर्मक्रियाएं भी करते हैं।

जैन साधु-साध्वियों की जीवन शैली आडम्बर विहीन Low profile होते हुए भी लोक कल्याण-कारिणी है। इनका सीधा सम्बन्ध जनता से होता है। धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित, ग्रामीण-नागरिक आदि भेद रेखाओं को स्वीकार न करने वाले ये त्यागी महापुरुष सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सार्वजनिक होते हैं। स्व-पर कल्याण में निरत इन त्यागी-तपस्वियों का आदर्श जीवन चरित्र अतीत में प्रेरणादायी रहा है, वर्तमान में आश्चर्यकारी है तथा भविष्य में मार्गदर्शक रहेगा।

3. जैन श्रावकों की जीवन शैली

संन्यास या संसार, साधुत्व या गृहस्थत्व– ये प्रश्न प्रत्येक युग में प्रत्येक धर्म प्रवर्त्तक के समक्ष रहा है। प्रवृत्ति मार्ग के उपदेष्टाओं ने गृहस्थ जीवन को प्रमुखता दी तो निवृत्तिमार्गियों ने साधु-जीवन को। प्रवृत्तिमार्गियों का विचार रहा कि एक सद्गृहस्थ अपनी, अपने परिवार की तथा अपनी समाज की जिम्मेदारियों का निर्वाह करने के कारण परम तत्त्व को शीघ्र पा लेता है। उनके अनुसार साधुत्व को अपनाना एक प्रकार का पलायनवाद है

1. **आश्रम बड़ा गृहस्थ है अन्याश्रम आधार।**
   इसे छोड़ संन्यस्त हो कायर नर बेकार ॥

2. **फिजूल पांव घिसाने से फायदा क्या,**
   अगर शौके-बयाबां है तो घर में पैदा कर।

3. **खुदा के बन्दे तो हजारों वनों में फिरते हैं मारे-2,**
   मैं उसका बंदा बनूंगा जिसको खुदा के बन्दों से प्यार होगा ॥

इसके विपरीत निवृत्ति मार्ग ये ही कहता रहा है कि संन्यास लिए बिना आत्म कल्याण नहीं हो सकता। गृहस्थता बंधन है तो संन्यास मुक्ति। **सोवक्कंकेसे गिहिवासे, निरुवक्कंकेसे परियाए, बंधे गिहिवासे-मोक्खे परियाए, सावज्जे गिहिवासे निरवज्जे परियाए।** घर रहने वाला केवल क्लेश, कषाय, पाप और बंधन का शिकार रहता है, घर छोड़ने पर ही क्लेश, कषाय, पाप और बंधनों से छुटकारा मिल सकता है।

1. **अपने घर पर बैठ कर अब तक किसी ने क्या लिया।**
   जिसने कोई जुस्तजू की उसने मकसद पा लिया ॥

2. **घर में ही रहे सोते पूरा न सफर होगा।**
   इस घर से चलोगे तो नजदीक वो घर होगा ॥

भ. महावीर ने प्रत्येक विषय की तरह इस विषय पर भी अनेकान्तवादी दृष्टिकोण दिया। उन्होंने दोनों मार्गों की उपयोगिता स्वीकार की। निवृत्तिवादी होते हुए भी उन्होंने प्रवृत्तिमार्ग का पूर्ण निषेध नहीं किया। उन्होंने प्रारंभ में ही धर्म की द्विरूपता स्वीकार की। 'धम्मे दुविहे पण्णत्ते आगारे चेव अणगारे चेव'। धर्म दोनों विधियों से किया जा सकता है आगार (गृहस्थ) में रहते हुए भी, अनगार अर्थात् गृहस्थता को त्याग कर भी। पन्द्रह प्रकार के सिद्धों के एक वर्ग में तीन अवस्थाएं बताई हैं—

सलिंग सिद्धे अण्णलिंग सिद्धे, गिहत्थ लिंग सिद्धे।

1. जैन वेश धारी व्यक्ति भी मोक्ष में जा सकता है। 2. अन्य धर्म के वेष को धारण करने वाला भी मोक्ष में जा सकता है तथा 3. गृहस्थ के वेष में रहने वाला भी मोक्ष में जा सकता है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आगम में प्रथम चक्रवर्ती भरत जी को शीश महल में केवल ज्ञान प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख कर गृहस्थ के लेवल को भी काफी ऊंचा सिद्ध कर दिया है। जैन कथा साहित्य में तो भरत के 8 उत्तराधिकारी राजाओं को शीश महल में केवल ज्ञान होना माना है। इस अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में मोक्ष में जाने वाली मरुदेवी मां गृहस्थ लिंग सिद्ध नारी थी।

जैनागमों का बहुभाग, यद्यपि, भिक्षु जीवन की आवश्यकता पर बल देता है, परन्तु गृहस्थ जीवन का चित्रण भी पर्याप्त मात्रा में आगमों में उपलब्ध होता है। 'उपासकदशांग सूत्र' तो संपूर्णतया श्रावकों (जैन गृहस्थों) के नाम समर्पित है ही, 'भगवती सूत्र' में शंख पुष्कली शतक आदि श्रावकों का, 'अन्तकृतदशांग सूत्र' में सुदर्शन श्रावक का विशद वर्णन उपलब्ध है। चार तीर्थ की धारणा जैनों का सर्वाधिक चर्चित विषय रहा है, जिनमें श्रमण एवं श्रमणियों की तरह श्रावक एवं श्राविकाओं को भी include किया हुआ है। इस तरह साधुत्व की तरह श्रावकत्व भी जैन साधना का महत्वपूर्ण पहलू रहा है। श्रावक,

श्रमणोपासक, देश-विरत, देश संयत, संयतासंयत आदि शब्द जैन गृहस्थ के लिए प्रयुक्त हुए हैं। संख्या और गुणवत्ता (Quantity and Quality) की दृष्टि में देखा जाए तो श्रावक संख्या बल में साधु से आगे हैं, किन्तु गुणवत्ता में साधुओं से काफी पीछे हैं। जब कोई गृहस्थ भग. महावीर के प्रवचनामृत का पान करके उठता है तो उसकी सहज अभिव्यक्ति होती है– 'आपका बताया मार्ग सत्य है, तथ्य है, मैं इस पर श्रद्धा करता हूँ मगर मैं साधु जीवन स्वीकार करूं, ये मुझ में सामर्थ्य नहीं है। मैं विवश हूँ फिर भी आपके सानिध्य में श्रावक के 12 व्रत ग्रहण करना चाहता हूं। इन वाक्यों से ये तो साफ झलकता है कि श्रावकत्व स्वीकारना मानसिक दुर्बलता है तथा साधुत्व की ओर बढ़ना मानसिक साहस है। तीर्थंकरों की संपदाओं की गणना के chart में भ. महावीर के साधु-साध्वियों की कुल संख्या 50 हजार थी, जबकि श्रावक श्राविकाओं की संख्या चार लाख 77 हजार थी। इस तरह संख्या में गृहस्थ साधु से आगे भी रहे हैं।

साधु तथा गृहस्थ में कौन छोटा कौन बड़ा? इसका समाधान करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में बड़ा अनेकान्तवादी चिंतन दिया है। **संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा, गारत्थेहि य सव्वेहिं साहवो संजमुत्तरा।** कुछ साधुओं से गृहस्थों का संयम ऊंचा हो जाता है पर साधारणतः सभी गृहस्थों से साधुओं का संयम ऊंचा ही होता है।

साधु और श्रावक के नियमों में एक मूलभूत अंतर ये है कि साधु के नियम समय-स्थान-स्थिति से निरपेक्ष होते हुए मात्र आत्मसापेक्ष होते हैं जबकि गृहस्थ के नियम समय, समाज तथा परिस्थितियों के अनुसार ढाले गए हैं। इस निरपेक्षता तथा सापेक्षता को आगमिक शब्दावली में कहें तो साधु की मर्यादाएं तीन करण तीन योग से जीवन पर्यंत के लिए होती हैं तथा इनमें कोई आगार (अपवाद) (Concession या Exception) मान्य नहीं होता जबकि श्रावक के व्रत नियमों के करण तथा योग भिन्न-2 होते हैं तथा आगार भी पर्याप्त होते हैं। साधु-साध्वी

को अपने युग और भूगोल में मान्य विधि-विधानों की भिन्नता प्रभावित नहीं करती जबकि श्रावक-श्राविकाओं को अपने नियम विधानों में क्षेत्र-काल और समाज की व्यवस्थाओं तथा मान्यताओं को स्वीकारना होता है।

जैन साधु अन्य मतीय साधुओं से नितान्त भिन्न जीवन व्यतीत करता है जबकि जैन श्रावक अन्य समाज जनों से काफी मिलता जुलता जीवन जीता है।

साधु जीवन Exclusive (असाधारण) होता है जबकि श्रावक जीवन Inclusive (समावेशी)। एक जैन आचार्य ने तो कहा है कि श्रावक की आध्यात्मिक क्रियाएं ही निजी, स्वतंत्र और भिन्न होती हैं, जबकि उसका बाह्य आचार-विचार व्यापक समाज के अनुरूप होता है।

अपने श्रावक धर्म में प्रवेश से पूर्व प्रत्येक नर नारी को अपनी सम्यक्त्व सुस्पष्ट करनी होती है। धर्मसाधना के प्रतीक बिम्बों में वह अपनी आस्था व्यक्त करते हुए कहता है कि अरिहंत मेरे देव हैं, जीवन पर्यन्त साधना करने वाले साधु-साध्वी मेरे गुरु हैं तथा तीर्थंकरों द्वारा निरुपित तत्त्व ही सत्य है। वह वीतराग देवों के अतिरिक्त किसी रागी-द्वेषी देवी-देवता की आराधना न करने का संकल्प ग्रहण करता है। जिन देवी देवताओं के पास शस्त्र हों, उनमें द्वेष की तथा जिनके साथ पत्नी और पुत्र जुड़े हों उनमें राग की तीव्र मात्रा स्वतः सिद्ध होती है इसलिए जैन श्रावक ऐसे देव-देवियों की उपासना नहीं करता। गुरु के रूप में उन्हीं महापुरुषों की सेवा करता है जो पांच महाव्रतों का दृढ़ता से पालन करते हैं। धन-संपत्ति या नारी के संबंध से लिप्त संन्यासियों को गुरु मानना एक श्रावक की सम्यक्त्व के विरूद्ध है। इसी तरह पशुबलि, श्राद्ध, तीर्थ-स्नान, यज्ञ-हवन आदि क्रियाओं को धर्म मानना भी श्रावक की समकित के प्रतिकूल है। उपासकदशांग सूत्र के सातवें अध्ययन में सद्दालपुत्र श्रमणोपासक का जीवन वर्णित है। वह पहले आजीवक

श्रमणोपासक था बाद में भ. महावीर के संपर्क में आकर आर्हत उपासक बन गया। जब गोशालक को उसके दृष्टि-परिवर्तन का समाचार मिला तो पुनः अपनी संप्रदाय में Reconvert करने की भावना से उसके पास आया। सद्दाल पुत्र गोशालक को सामने खड़े देखकर भी स्वागत सम्मान में खड़ा नहीं हुआ। ऐसी दृढ़ता के और भी कई उदाहरण आगमों तथा कथा ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं। द्रौपदी ने नारद की, मल्ली कुमारी ने चोक्षा परिव्राजिका की उपचार विनय में कोताही की। सुलसा श्राविका और अंबड़ परिव्राजक का आख्यान भी जैन कथा साहित्य में सुचर्चित रहा है।

देव, गुरु, धर्म विषयक दृढ़ता के बावजूद जैन श्रावक लौकिक रीति-रिवाजों, सामाजिक परम्पराओं, घरेलू धारणाओं का निर्वाह निःसंकोच होकर करते थे। अरणक (अर्हन्नक) जैसा दृढ़धर्मी श्रावक भी समुद्री यात्रा से पूर्व विघ्न निवारण के लिए देवताओं की पूजा अर्चना करता है। संतान के जन्म से जुड़ी सभी तद्युगीन समाज प्रथाओं का पालन श्रावक करता है। इन्द्रमह, स्कन्दमह आदि महोत्सवों एवं मेलों में जैन श्रावक की हिस्सेदारी होती थी। यदि किसी परिवार में पूर्वजों के सम्मानार्थ पूजा अर्चा होती थी तो श्रावक उसमें शरीक होता था। ये सब अनुष्ठान उसके लिए धार्मिकता के प्रतीक न होकर सांस्कृतिक सुरक्षा के अंग होते थे। इन क्रियाओं में उसकी सम्यक्त्व का लोप नहीं माना जाता था।

भग. महावीर के निर्वाण के 400-500 वर्ष पश्चात् जब जैन धर्म में मूर्त्ति का प्रवेश हुआ तब से लेकर वीर लोकाशाह के काल तक सभी जैन श्रावक अपनी सम्यक्त्व या श्रद्धा की पूर्त्ति या पुष्टि देव-दर्शन-पूजा अर्चना द्वारा करते रहे। देवदर्शन किए बिना मुंह में अन्न-जल डालना अनेक प्रियधर्मी जैनों के लिए निषिद्ध होता था। देवदर्शन की परम्परा आगे बढ़ी तो लोग दूरवर्ती तीर्थों की यात्राएं भी करने लगे। शत्रुञ्जय, गिरनार आदि तीर्थों की महिमा बढ़ी। जनसामान्य धार्मिकता का भाव

लेकर तो वहाँ जाने ही लगे साथ ही मानसिक, शारीरिक, पारिवारिक, व्यावसायिक समस्याओं के समाधान तथा इच्छापूर्ति की मंशा से भी उनका जाना आम हो गया। धीरे-2 स्तोत्र और मंत्रों का जाप भी इस प्रक्रिया में जुड़ गया। प्रारंभिक स्तोत्र और मंत्र भक्ति प्रधान रहे पर अतिशीघ्र ही उनमें याचना भाव का अंश प्रधान हो गया। इतना होने पर भी वे स्तोत्र और मंत्र पंच परमेष्ठी, तीर्थंकर या गुरुओं से संबद्ध होने से सम्यक्त्व में बाधक नहीं गिने गए। इसी तरह मंदिरों में दीपों द्वारा की गई आरती, पुष्पार्पण, जल प्रक्षालन आदि क्रियाएं भी धार्मिक श्रद्धा की पोषक मानी जाती रही। स्थापना निक्षेप के आधार पर जैन प्रतीकों को तो मान्यता दी गई पर जैनेतर प्रतीकों को मिथ्यात्व की श्रेणी में डाल दिया गया। श्री लोकाशाह जी ने जैनेतर प्रतीकों के साथ-2 जैन प्रतीकों की पूजा को भी अनागमिक सिद्ध कर दिया। उस मान्यता का अनुसरण करने वाले स्थानकवासी और तेरापंथी श्रावकों ने जड़पूजा से जुड़े प्रत्येक अनुष्ठान को मिथ्यात्व कोटि में डाल अपनी सम्यक्त्व को निराकार देवों की उपासना तथा संयमी गुरुओं की विनय भक्ति द्वारा पुष्ट करना प्रारंभ कर दिया। नवकार मंत्र के जाप को प्रमुखता दी जाने लगी। प्रतिदिन सामायिक करने की ओर रुचि बढ़ी। सामायिक में 48 मिनट तक आत्म-चिंतन, प्रभु-स्मरण, स्वाध्याय ध्यान किसी भी विधि का अवलंबन लिया जा सकता है। हाँ सामायिक में ही उन्हीं मंत्र स्तोत्रों की फिर शुरुआत हो गई जिनमें कष्ट निवारण, आशापूर्ति का आश्वासन होता था। गृहस्थ की ये विवशता ही है कि उसे धार्मिकता के साथ-2 भौतिकता की पूर्त्ति भी करनी ही होती है। वह घूम-घाम कर अपनी गृहस्थी का संतोष पूर्ण समाधान चाहने लगता है। यदि इन जाप-पाठ आदि से सफलता नहीं मिलती तो वह अपने कुलदेव-देवियों, पितरों की मन्नत मनाने लगता है। वहाँ भी काम न बने तो जैन तीर्थों की ओर जाने लगता है, जरूरत पड़ने पर जैनेतर तीर्थों की ओर भी उसका रूझान बन जाता है।

कहने का अभिप्राय ये है कि शुरू से आज तक जैन श्रावकों की समकित में बाहरी चीजों का दखल रहा है। जहाँ तक जैन श्रावकों के आचरण का सवाल है, वह 12 व्रतों की परिधि में निर्मित होता है। 12 व्रतों का विभाजन अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षा व्रतों में किया गया है। जिनमें पांच अणुव्रत मौलिक सिद्धान्तों का पालन है तो गुणव्रत और शिक्षाव्रत उन सिद्धांतों के उपनियम अथवा उत्तर गुण हैं। पहले अणुव्रत अहिंसा को जैन श्रावकों ने इतनी तत्परता और जागरुकता से निभाया है कि अहिंसा जैनत्व का पर्यायवाची बन गई है। अहिंसा के पालन के कारण जैन समाज विश्वभर में विशुद्ध शाकाहारी समाज के रूप में विकसित हुआ है। बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म विस्तार की कहानी इसलिए नहीं लिख सका क्योंकि विश्व की अधिकतर आबादी मांसाहार छोड़ने को तैयार नहीं थी। पर्वतीय, समुद्र तटीय, रेगिस्तानी तथा बर्फ बहुल इलाकों में अन्न की उपज न होने से वहाँ की प्रजा मांसाहार की अभ्यस्त रही, उन्हें शाकाहारी बनाना उस युग में संभव नहीं था अतः जैनों ने लघु समाज में संतुष्ट रहना मंजूर किया। यह अहिंसा धर्म की पालना की प्रथम कसौटी थी।

अहिंसा का दूसरा रूप ये उभरा कि प्रारंभ में क्षत्रिय जाति में पनपने वाला जैन धर्म बाद में वैश्य समाज में फैला। क्षत्रिय लोग युद्ध प्रिय होते थे, युद्ध उनका पारम्परिक धंधा भी था। अहिंसा के पालन के लिए युद्ध को निरुत्साहित किया गया, तो क्षत्रियों ने क्रमशः इस धर्म से दूरी बनाई और वैश्यों ने इससे निकटता बनाई। यद्यपि जैनाचार्यों ने श्रावक की अहिंसा की व्याख्या करते हुए देश रक्षा, अन्याय का प्रतिकार, दुर्बलत्राण के लक्ष्य से उठाए गए शस्त्र को श्रावक के लिए अनुमत कर दिया था। उस व्याख्या के तहत कई जैन शासकों द्वारा लड़ी गई लड़ाइयां जायज साबित की गई। आगम युग में चेटक का कोणिक के साथ युद्ध हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य ने राष्ट्र सुरक्षा के लिए यूनानियों से युद्ध किया। महामेघ वाहन खारवेल ने मगध शासकों से युद्ध किया। गुजरात के अनेक जैन

शासकों ने भी अपने-2 युग में युद्ध किए। उदायन, वस्तुपाल-तेजपाल जैसे जैन श्रावकों ने सेनापति के रूप में शत्रु सेनाओं के छक्के छुड़ाए। इतिहास में कई प्रसंगों पर जैन वीरों की शौर्य गाथाएं अंकित हैं। युद्ध की अनेक घटनाओं के बावजूद जैनों के अहिंसा-सिद्धान्त का युद्धप्रिय क्षत्रिय जाति से अलगाव होता गया। क्षत्रियों के द्वारा लड़े गए युद्धों को जैसे तैसे Justify करने के बावजूद क्षत्रिय लोगों की शिकार रुचि को समर्थन देना जैनों के लिए संभव नहीं था। युद्ध में निष्णात और तैयार (War preparedness) रहने के लिए क्षत्रियों के लिए शिकार में निशाने बाजी का अभ्यास रखना जरूरी था। जो व्यक्ति शिकार खेलता हो उसका मांसाहारी होना भी लगभग निश्चित रहता है, अतः जैन उन सब प्रवृत्तियों को मान्यता देते ये नितान्त असंभव था।

क्षत्रियों के अलावा देश की शेष जातियों से भी जैन धर्म इसलिए सिमटने लगा क्योंकि वे जातियां हिंसा प्रधान व्यवसायों में संलग्न थी। जिन व्यवसायों में मानव और पशुओं पर अत्याचार होते थे, उन व्यवसायों को 'कर्मादान' नाम दिया तथा उन्हें महारंभ, महापाप कहकर श्रावकों के लिए वर्जित कर दिया। जंगल कटवाने, पहाड़ तोड़ने, भट्ठे लगाने, हाथी दांत, पशुओं के बाल, हथियार, जहर आदि बेचने जैसे धंधे जब Large scale पर किए जाते थे तो उनमें इंसानों को बन्धुआ मजदूरी (Bonded Labour) का शिकार होना पड़ता था पशुओं पर बेरहमी बरती जाती थी, इसलिए ये व्यवसाय अहिंसा के पालक के लिए संभव नहीं थे अतः जैन समाज में व्यवसायों की भी Limited Range रह गई। प्राचीन युग में जिन व्यवसायों में प्रत्यक्षतः अधिक हिंसा होती थी, उन सबसे जैन श्रावकों ने किनारा किया। चमड़ा, चर्बी, शहद आदि के धंधों में जैनों की Zero प्रतिशत हिस्सेदारी रही। आधुनिक युग में हिंसक व्यवसायों के नए संस्करण आए Hatchery, Poultry, Fishery, Piggery आदि कितने ही आय वर्धक धंधे हों पर अहिंसक भावना से ओत-प्रोत जैन समाज ने ऐसे व्यवसायों को कभी नहीं अपनाया।

जैनों की अहिंसा दृष्टि कभी-2 कहीं-2 अत्यधिक सूक्ष्मता तक भी गई। उन्होंने देखा कि कहीं-2 खेती में पशुओं पर ज्यादती होती है, हल चलाने के बाद जमीनी कीड़ों की जान जाने की संभावना रहती है, इसलिए कुछ लोग कृषि से भी दूर हटने लगे। बढ़ते-2 कृषि भी कर्मादान के दायरे में आ गई और जमीन को खोदना भी बड़ी हिंसा के अन्तर्गत आ गया। अधिकांश जैन वस्त्र-व्यापार, ज्वैलरी या सूदखोरी की ओर मुड़ने लगे, ये सोचकर कि इन कामों में प्रत्यक्ष जीवों का वध नहीं है। इस प्रवृत्ति को भले ही विशुद्ध रूप से आगमकारों का समर्थन नहीं था पर इतिहास की धारा बहते-2 नए-2 रूप तो ले ही लेती है। आगमकारों ने जैन श्रावक को दैनिक व्यवहार में तथा कारोबार में पांच प्रकार की सावधानियां प्रारंभ में दे दी थी— 1. वह किसी दास-दासी या पशु-पक्षी को इतने कठोर बंधन में नहीं बांधेगा, जिससे कि बंधन ग्रस्त प्राणी तड़पने-बिलखने सिसकने के लिए मजबूर हो जाए। 2. वह किसी भी प्राणी पर इतना तेज प्रहार नहीं करेगा कि शरीर में घाव हो जाएं। 3. वह क्रूरता पूर्वक, प्रतिशोध की भावना से किसी का अंगभंग भी नहीं करेगा; यद्यपि प्राचीन दण्ड व्यवस्थाओं में अंग काटने, चाबुक मारने या जंजीरों में बुरी तरह से जकड़ने के प्रावधान थे, मगर कारागृह में उच्चाधिकारी होते हुए भी जैन श्रावक ऐसे निर्दय दण्ड भुगतवाने से बचते थे। यदि कोई जैन श्रावक जज की seat पर बैठा होता तो भी वह अंग काटने जैसी सजा किसी अपराधी को नहीं देता था। 4. जैन श्रावक पशुओं पर या अपने पर या अपने अधीन कर्मचारियों पर उनकी क्षमता से अधिक भार नहीं डाले। 5. वह किसी भी व्यक्ति को आहार पानी से वञ्चित न करे। स्वयं तपस्या को जीवन ध्येय बनाने वाली जैन समाज ने कभी किसी नौकर-चाकर तथा पशु के खाने-पीने पर रुकावट डालने जैसी ज्यादती नहीं की। इसके विपरीत जैन श्रावकों ने अनाथ पशुओं के लिए चारे पानी का इंतजाम किया, गौशालाएं खोलकर गायों तथा अन्य पशुओं की जीवन यात्रा को सुगम बनाया। दुष्काल आदि

प्राकृतिक आपदाओं के समय अन्नसत्र, दानशालाएं, प्याऊएं खोलकर अपने अहिंसा धर्म को विकसित और पल्लवित किया।

अहिंसा के संस्कारों की प्रगाढ़ता का ये परिणाम है कि जब देश की जेलों में बंद अपराधियों के धर्माधारित आंकड़े एकत्रित किए गए तो फौजदारी मामलों में (Criminal cases) में जैन धर्मावलंबी व्यक्ति इतने कम पाए गए कि उनकी संख्या नगण्य मानी गई। जैनों का यह प्राकृतिक गुण सा बन गया है कि वह अपने साथ किए गए अन्याय को सह लेता है पर हथियार उठाकर किसी अन्यायकर्त्ता को घायल या समाप्त नहीं करता। अपनी ओर से किसी पर पहला प्रहार करना तो उसकी सोच में ही नहीं आता। मनोरंजन के लिए यदि किसी इलाके में जल्ली कट्टू- जैसी पशु क्रूरता वर्धक क्रीडाएं चलती हो उनमें जैन बंधु शामिल नहीं होते, बल्कि उन्हें बंद करवाने के लिए प्रयास करते हैं।

जैनों के अहिंसा गुण से विश्व के प्रायः सभी चिन्तक प्रभावित रहे हैं। यूरोप में Pacifism नामक एक विचारधारा युद्धों का विरोध करती रही थी, उसका मूल जैन धर्म था। अंग्रेजी साहित्यकारों में सुविख्यात जार्ज बर्नार्ड शा ने इस अहिंसा से प्रभावित होकर कहा था कि अगले जन्म में जैन परिवार में जन्म लेना चाहूंगा। विश्वस्तर पर शाकाहार की धारणा व्यापक होते-2 Vegan शैली में ढलने लगी है। इसके मूल में भी जैन अहिंसा का मंत्र काम कर रहा है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में जैन धर्म की अहिंसा को Ideological और Practical Level पर सर्वग्राही बनाने वाले महात्मा गांधी का आध्यात्मिक निर्माण जैन परिवेष और जैन साधकों के माध्यम से हुआ था। गांधी जी के प्रमुख शिष्य विनोबा भावे ने जैनों के संबध में जो टिप्पणी की थी वह बड़ी मायने खेज़ है, "जैन संख्या में बहुत थोड़े हैं पर इनकी आध्यात्मिक उच्चता सर्वश्रेष्ठ है यदि इनकी संख्या अधिक हो जाए तो उनकी Superiority घटने का खतरा है। इसलिए मेरा सुझाव है कि जैन संख्या बढ़ाने के लालच में न आएं केवल अपनी अहिंसात्मक Quality को बरकरार रखें।"

जैन श्रावकों की नियमावली में दूसरा सिद्धान्त सत्यव्रत आता है। इस व्रत के तहत जैन श्रावक अपने परिवार, समाज एवं समस्त वातावरण के साथ सच्चाई का व्यवहार करता है। वह पुत्र-पुत्री के वैवाहिक संबंधों को बनाने के लिए अपनी संतान के गुण दोषों को स्पष्ट-2 शब्दों में सूचित करता है। केवल संबंध बन जाए– इस उद्देश्य से न असत्य बोलता है, न तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर पेश करता है, न किसी घटना को छिपाता है। बच्चों की शिक्षा, आय के साधन, पारिवारिक संपदाओं के संबंध में मिथ्या भाषण करके वह तात्कालिक लाभ उठाने की बजाय सत्याधारित संबंधों का निर्माण करने पर अधिक विश्वास रखता है। जमीन जायदाद की खरीद फरोख्त के मुद्दे पर झूठ बोलना तो दूर, वह गाय, भैंस जैसे मूक पशुओं की लेन देन पर भी असत्य नहीं बोलता। यदि तुच्छ स्वार्थ पूर्ति के लिए वह असत्य बोलता है तो भग. महावीर की दृष्टि में वह श्रावक धर्म का पालक नहीं है। जैन श्रावक अपने सत्य को केवल धर्मस्थानों की चार दीवारियों में ही नहीं निभाता अपितु व्यापार, बाजार, व्यवहार के धरातल पर भी सत्य की सुरक्षा करता है। जब न्यायालय, पंचायत या समाज में मानापमान, जीवन-मृत्यु, सजा और कज़ा का खतरा मंडरा रहा हो तब भी वह सत्य से विमुख नहीं होता। किसी की अमानत रखकर उसे अपने कब्जे में लेने की दृष्टि से की गई शर्तों से मुकरता नहीं, शर्तों को बदलता नहीं तथा पंचों या जजों के सामने झूठी गवाही नहीं देता, जैनों की इस सत्य निष्ठा की इतनी बड़ी धाक थी कि पुराने समय में बहुधा जज किसी जैन भाई की गवाही के आधार पर ही केस का फैसला सुना देते थे। उन्हें यकीन होता था कि जैन श्रावक निष्पक्ष भाव से सत्य का प्रतिपादन करेगा। जैनों की प्रतिष्ठा का Graph उनकी सत्यवादिता पर टिका हुआ था। व्यवसाय के क्षेत्र में जनसामान्य की मान्यता थी कि जैन दुकानदार किसी बालक को भी बेचने योग्य वस्तु का मूल्य कम ज्यादा नहीं बताएगा। वह विश्वसीनयता का केन्द्र होता था। अपनी सत्यवादिता के बल पर जैनों ने अपने व्यापार में उन्नति की, जबकि सामान्य नागरिकों

का ख्याल था कि व्यापारिक उन्नति झूठ और फरेब पर निर्भर करती है। श्रावक जीवन की पवित्रता को स्थायी बनाने के लिए भग. महावीर ने कुछ सावधानियों का Sign Board बनाकर कदम-2 पर टांग दिया था। जिस पर पहली नसीहत लिखी है कि कोई श्रावक किसी घटना की हकीकत को अच्छी तरह जांच किए बिना, मजे के लिए, शौक के लिए जनता में प्रसारित न करे। **"आंखों देखी बातों पर भी जल्दी मत विश्वास करो, सुनी सुनाई बातें तो बस गूंज हवा की होती हैं"** अफवाहें फैलाना भी झूठ को बढ़ावा देना है अतः श्रावक के लिए यह वर्जित है।

दूसरी नसीहत के तौर पर भगवन्तों ने लिखा है कि एक श्रावक किसी के रहस्यों का पर्दाफाश भी न करे, यदि किसी ने आप पर विश्वास करके कोई गोपनीय बात बताई है तो उसके विश्वास की सुरक्षा करना एक श्रावक के लिए अत्यावश्यक है। भले ही, ऊपर से देखने में वह बात सत्य ही क्यों न हो, पर उस सत्य के उद्घाटन से किसी की प्रतिष्ठा, जिन्दगी या सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है, तो सत्योद्घाटन के नाम पर किसी की जिन्दगी से खिलवाड़ करना एक धार्मिक व्यक्ति के लिए वाजिब नहीं है। तीसरी नसीहत बिलकुल घरेलू है कि एक श्रावक अपनी पत्नी की या एक नारी अपने पति की गुप्त मंत्रणा को जग जाहिर न करे। इससे पारिवारिक विश्वसनीयता सुरक्षित रहती है। किसी भी जैन श्रावक को अपने घर, समाज एवं राष्ट्र की मर्यादाएं भी रखनी जरूरी होती हैं। सत्य भाषण की परिभाषा को व्यापकता प्रदान करते हुए एक नये पहलू को उजागर करते हुए आगे लिखा है कि जैन श्रावक झूठे लेख न लिखे। किसी विरोधी के खिलाफ फर्जी पर्चे छपवाना, अपनी आय व्यय के झूठे दस्तावेज तैयार करना, नकली कागज तैयार करके किसी से धोखाधड़ी करना झूठ का निकृष्ट रूप है अतः भग. महावीर का अनुयायी श्रावक ऐसी हरकत कभी नहीं करता। श्रावक का प्रत्येक वचन आदेय होता है क्योंकि वह सत्य का पुजारी होता है।

सत्य के साथ चोली-दामन की तरह अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य, अस्तेय है। उसके जीवन में नैतिकता-प्रामाणिकता कूट-2 कर भरी हुई होती है। उनकी ईमानदारी उसकी निजी उच्चता का परिचय तो देती ही है साथ ही समाज एवं राष्ट्रीय वफादारी का प्रतीक भी होती है। उसको धन संपति की आवश्यकता तो होती है पर वह अपने श्रम, बुद्धि-कौशल एवं अपनी कला योग्यता के जरिए ही अपने परिवार के लिए साधन संचय करता है। किसी को लूटकर, किसी का द्रव्य हडपकर या धोखाधड़ी का सहारा लेकर अपना घर नहीं भरता। इतिहास के प्रारंभ से वर्तमान काल तक जैनों की गिनती धनाढ्य, समृद्ध एवं संपन्न (Well-to-do) वर्ग में रही पर कभी भी जैनों ने चोरी डाकेजनी से धन का अर्जन नहीं किया। मसी, कृषि, वाणिज्य व्यापार आदि में बुद्धिबल, देहबल लगाकर प्रचुर धन कमाया, दुर्व्यसनों में खर्च नहीं करके उसका संरक्षण किया। समाज और राष्ट्र की सेवा में उसका व्यय भी किया मगर किसी राहगीर को, सार्थवाह को लूटकर अपना घर भरने का तुच्छ कार्य जैनों ने नहीं किया। देश के नवीन इतिहास में दो प्रंसग ऐसे आए जब खुले आम लूट खसोट हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय अपने-2 इलाकों में हिन्दू प्रजा ने मुस्लिम लोगों की धन संपति लूटी तथा मुस्लिमों ने हिन्दुओं की। उस घिनौने माहौल में भी जैनों का Track Record रहा कि इन्होंने किसी के एक पैसा, पाई पर भी कब्जा नहीं किया। इसी तरह सन् 84 में सिक्ख विरोधी दंगों में सिक्खों की दुकानें लूटने के हजारों उदाहरणों में किसी जैन का नाम नहीं आया। लूटकर, छीनकर, चोरी करके धन या माल उठाना जैनों के संस्कारों से सदा से जा चुका है। इस व्रत के पालन में कहीं चूक न रह जाए, इसके लिए तीर्थंकर भगवन्तों ने प्रारंभ में ही पुख्ता प्रबंध कर दिए थे। इस नियम के पांच अतिचारों पर चिंतन करने से प्रतीत होता है कि ये अतिचार विशेष रूप से व्यापारी वर्ग को ध्यान में रखकर निर्धारित किए गए हैं और एक जैन श्रावक इतनी जागरुकता रखता है कि स्वयं चोरी करना तो दूर यदि उसे पता लग जाए कि जो वस्तु मैं खरीद रहा

हूँ वह चोरी की हुई है तो वह उस वस्तु को नहीं खरीदेगा, चाहे वह वस्तु उसे सस्ती ही क्यों न मिलती हो। उसके लिए प्रश्न महंगी और सस्ती का नहीं होता, प्रमाणिकता और नैतिकता का होता है। चोरी के धंधे में लिप्त कोई आदमी चाहे उसका रिश्तेदार हो, मित्र हो, परिचित हो, बिल्कुल सगा हो तो भी उसकी सहायता नहीं करेगा, उसकी पैरवी नहीं करेगा, चोरी के धंधे से उसे इतनी ज्यादा नफरत होती है कि चोरी करने वाला कोई आदमी उसे अपना नजर ही नहीं आता। ईमानदारी के धरातल को और ऊंचाई पर ले जाते हुए जैन श्रावक अपने देश और राष्ट्र के विरूद्ध किसी कार्य में संलिप्त नहीं होता। देश के नीति निर्माता राष्ट्रहित में कुछ वस्तुओं के आयात-निर्यात पर पाबन्दी लगाते हैं, उस स्थिति में कुछ शातिर लोग प्रच्छन्न रूप से उन वस्तुओं को बाहर से लाते हैं और बाहर भेजते हैं, तस्करी Smuggling के इन धंधों से बड़ी मोटी कमाई करते हैं। शस्त्रास्त्रों की तस्करी, Drugs की तस्करी, gold की तस्करी, Defence के Secret दस्तावेजों की तस्करी अधुनातन युग की चर्चित तस्करियां हैं। पुराने युग में भी इस तरह के राज्य विरुद्ध काम कुछ लोग करते थे, पर भग. महावीर के श्रमणोपासकों को सख्त हिदायत थी कि ऐसे किसी राष्ट्र विरोधी काम में संलिप्त नहीं हों। चूंकि जैन श्रावक प्रायः वैश्य समाज से जुड़ा हुआ था और वैश्य अधिकतर व्यापारी होते थे अतः उन्हें सावधान किया कि अपने अचौर्य व्रत को शुद्ध रखना है तो नापने तोलने में फर्क नहीं होना चाहिए। खरीदते समय अधिक सामान लेना, बेचते समय थोड़ा सामान देना, यह सरासर अन्याय और बेईमानी है, प्रकारान्तर से चोरी ही है, इसलिए इस क्षुद्र प्रवृत्ति से बचना है। इसी तरह असली वस्तु दिखाकर Duplicate वस्तु देना, बहुमूल्य बताकर अल्प मूल्य की वस्तु देना ठगी है, बेईमानी है और चोरी का एक प्रकार है। हर सूक्ष्म स्थूल चोरी से बचकर चलने वाले जैन श्रावकों की नैतिकता का लोहा हर युग ने माना था। इसी कारण राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तों में अधिकतर राजघरानों में राज्य कोष की सुरक्षा में जैन श्रावक नियुक्त होते थे।

राजाओं को पूरा विश्वास होता था कि यदि खजाने की देखभाल जैन दीवान के हाथ में रहेगी तो कोई घपला, गोलमाल नहीं होगा। अहिंसा व्रत की तरह सत्य एवं अचौर्य व्रत के उच्चतम मानकों पर प्राचीन जैन समाज खरी उतरती रही है पर आधुनिक युग में दूसरे तथा तीसरे व्रतों के प्रति कुछ उपेक्षा होने लगी और इसके परिणाम स्वरूप कुछ घटनाएं प्रकाश में आने लगी जिनमें जैन समाज के लोग तस्करी, हवाले आदि के धंधों में संलिप्त पाए गए। इसी तरह कोर्ट कचहरियों में भी झूठी गवाहियां देना जैनों ने चालू कर दिया और अपनी प्रतिष्ठा का एक-छत्र राज्य हाथ से गंवा दिया। कुछ शासकीय नीतियों की उलझनें बढ़ती गई और कुछ अधिकाधिक अर्जन की लालसा बढ़ने लगी, इस कारण टैक्स चोरी, ब्लैक मार्किट जैसे राष्ट्र विरोधी कार्यों में जैनों का नाम आने लगा। फिर भी समग्र देश के नैतिकता ह्रास की तुलना में जैन समाज की नैतिकता काफी सुरक्षित है। जैन श्रावक गहरी विवशता की स्थिति में ही अनैतिक आचरण करता है तथा समय-2 पर अपने आचरण को सुधारने का प्रयास भी करता रहता है।

चौथे व्रत ब्रह्मचर्य के संबंध में जैन श्रावकों ने जितना संयम और नियंत्रण Develop किया है वह शायद सकल विश्व के लिए आदर्श बन सकता है। इस नियम के अंतर्गत कोई भी पुरुष अपनी विवाहिता पत्नी तथा नारी अपने विवाहित पति के अलावा किसी अन्य नारी या पुरुष से शारीरिक संबंध स्थापित नहीं करती।

प्राचीन युग से वर्तमान काल में एक विशेष परिवर्तन आया है कि हजारों साल पहले बहुपत्नी प्रथा (Polygamy) समाज में मान्य थी, इसलिए एक जैन श्रावक कई पत्नियों के साथ विवाहित जीवन व्यतीत कर लेता था। जबकि वर्तमान काल में एक पत्नी प्रथा (Monogamy) ही विधि सम्मत तथा समाज मान्य है, अतः जैन श्रावक भी इस प्रथा का पूर्ण पालन करते हैं। प्राचीन युग में भी बहु पत्नी वाद की अनुमति के बावजूद अधिकतर श्रावक एक पत्नी से ही संतोष करते थे, अनेक

पत्नियों से विवाह करने वाले श्रावक आपवादिक तौर पर ही होते थे। परपुरुष, परस्त्री के संपर्क से सर्वथा बचने वाले जैनों के सदाचार की बदौलत राजा महाराजाओं के अंतःपुर (ड्यौढ़ी) पर इन्हें नियुक्त किया जाता था। महाभारत का श्लोक जैन श्रावकों पर शत-प्रतिशत लागू होता रहा है।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ॥

पराई स्त्री में माता के दर्शन करने वाला, पराए धन को मिट्टी की तरह समझने वाला तथा सर्व प्राणियों को अपने समान मानने वाला व्यक्ति ही ज्ञाता द्रष्टा होता है।

इस सदाचार का सत्परिणाम ये आया कि एड्स जैसी महामारी जिसने विश्व को थर्राया हुआ है, उससे जैन समाज पूर्णतः सुरक्षित रहा। पर-स्त्री, पर-पुरुष से सर्वथा दूर रहने वाले जैन श्रावकों ने अपने विवाहित जीवन को भी अतिसीमित करना ध्येय बना रखा है। बहुत जैन श्रावक-श्राविकाएं वर्ष में कुछ महीने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं तथा महीने की कुछ तिथियों (दूज-पंचमी-अष्टमी-एकादशी-चतुर्दशी) पर शील का पालन करते हैं। उनकी भावना रहती है कि एक विशेष आयु के बाद वे मैथुन क्रिया से सर्वथा दूर रहेगें। ऐसे-2 युवक-युवतियां जैन समाज में है जिन्होंने अपने विवाह के प्रारंभिक काल में ही ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ग्रहण की है। ब्रह्मचर्य के मामले में कुछ युवक तो साधुओं जैसी साधना तक पहुंचे हुए हैं। विलासिता, उद्दाम भोग-लालसा के मौजूदा माहौल में जैन समाज पर Rape, Prostitution जैसे अपराधों का दाग नहीं लगने का मुख्य कारण ये है कि भग. महावीर के अनुयायी भोग को महत्त्व न देकर त्याग को ही महत्त्व देते हैं।

अब हम पांचवे अपरिग्रह व्रत का जायजा ले लें। एक गृहस्थ के लिए अपने परिवार, संबंधि-वर्ग, समाज एवं राष्ट्र का भरण पोषण

करना मुख्य दायित्व होता है। इसलिए उसे अधिकाधिक साधनों का संग्रह करना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह परिग्रह, धन, संपत्ति को सीमित करे, अल्प करे या बचाए-बढाए उसके लिए यक्ष प्रश्न बन जाता है। भग. महावीर के समय से लेकर आज तक जैन श्रावक प्रायः समृद्धि के शिखर पर ही रहे हैं। जमीन-जायदाद-सोना-चांदी, रत्न-जेवर, धन-धान्य तथा अन्य घरेलू उपकरणों का विशाल भंडार जैनों की विरासत रही है पर इन्होंने इन सब चीजों पर कब्जे की भावना नहीं रखी, बल्कि उपयोगिता की दृष्टि से इनका संग्रह किया है। **'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो'** मूर्च्छा परिग्रह है, वस्तु नहीं। इस विचारधारा के कारण हर युग में जैनों ने अपनी संपत्ति को देश और समाज की सेवा में समर्पित किया है। जगडूशाह, खेमा देदराणी, भामाशाह, वस्तुपाल, तेजपाल आदि कुछ प्रसिद्ध नाम इस अपरिग्रही सोच के उदाहरण हैं।

वर्तमान काल में देश के प्रायः प्रत्येक जन कल्याणकारी कार्यों (Philanthropic work) में जैनों की अहम भागीदारी होती है। जो श्रावक निवृत्ति मार्ग की ओर बढ़ने लगते हैं उनकी कोशिश रहती है कि उनके अधीन जो धन संपदा है, उसको अपने नाम न रखकर पारिवारिक सदस्यों के नाम कर दें। जिनके घर क्रोड़ों का धन होता है, वे अपने लिए बामुश्किल हजार-लाख रुपये रखते हैं और शेष परिवार के खाते में डाल देते हैं, एक उत्तम श्रावक का प्रथम मनोरथ ही ये होता है कि मैं आरंभ और परिग्रह का अल्पीकरण करूं। यदि कोई श्रावक परिग्रह को संक्षिप्त नहीं कर सकता तो वह अपने व्यक्तिगत जीवन में उपयुक्त होने वाली भोगोपभोग सामग्री को तो अत्यन्त संक्षिप्त कर ही लेता हे। उस संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया के लिए जैन धर्म में तीन गुणव्रतों की व्यवस्था दी गई है। गुणव्रतों में पहला व्रत दिशा परिमाण व्रत है। इस व्रत का विधान इस दृष्टि से किया जाता है कि कोई जैन श्रावक अपने राष्ट्र-राज्य देश की सीमाओं से बाहर न जाए। विदेश जाने से रोकने के पीछे मुख्य दो लक्ष्य थे कि Territory कब्जाने के

लिए होने वाले मुद्दों पर विराम लगे या Trade बढ़ाने के लिए, अन्य देशों की अर्थव्यस्था नष्ट करने की प्रवृत्तियों पर रोक लगे। जैन राजा अन्य प्रदेशों पर हमला न करें तथा जैन व्यापारी दूरस्थ देशों की मार्किट पर कब्जा न कर लें। इस भावना से दिशा परिणाम व्रत का विधान किया गया। वैसे इस व्रत को बहुत गंभीरता से कभी नहीं लिया गया। क्योंकि आगमों में अर्हन्नक, पालित जैसे दृढ़व्रती श्रावकों का विदेश गमन वर्णित है तथा आनन्द आदि प्रमुख श्रावकों के पास जलपोत होने का उल्लेख है। मध्यकाल में जैन व्यापारी ईरान-चीन आदि देशों में व्यापारार्थ गए, नए युग में जैन युवक विदेशों में अध्ययनार्थ गए तथा आज भी यह क्रम जारी है। गुणव्रतों में दूसरे व्रत भोगोपभोग परिमाण व्रत पर श्रावकों का ध्यान विशेष रूप से गया। इसके माध्यम से जैन श्रावकों ने अपने व्यक्तिगत जीवन की जरूरतों को अत्यधिक सीमित कर लिया होता है। वस्त्र-भोजन के Items, पानी की मात्रा, जूते-चप्पल आदि दैनिक उपयोग की अधिकांश वस्तुओं का अल्पतम प्रयोग करने वाले धनाढ्य सेठ-सेठानियों की जीवन शैली देखकर उपभोक्तावादी संसार (Consumerist world) चकित रह जाता है। कुछ श्रावक तो वस्त्र प्रक्षालन तथा स्नान का त्याग भी कर लेते हैं। आहार के विषय में इतना संतोष कि 5-7 द्रव्यों से ही दीर्घ जीवन गुजार लेते हैं, नए स्वादों और व्यंजनों की तरफ ताकते भी नहीं। घर में रहते हुए भी संन्यस्त जीवन व्यतीत करते हैं। आठवां व्रत अनर्थ दण्ड विरमण व्रत है जो गहरे विवेक की ओर श्रावक को मोड़ देता है। इस व्रत का प्रतिपाद्य ये है कि एक धार्मिक श्रावक बिना आवश्यकता स्वल्पतम हिंसा भी न करे, असत्य तथा चोरी से बचे। अनावश्यक चेष्टाओं से बाज़ आए। गप्पबाजी, हास्य विकथा से तो दूर रहे ही, हिंसा वर्धक शस्त्रास्त्रों के संग्रह से तथा खाद्य-पेय पदार्थों के अधिक संग्रह से भी बचे। इस व्रत की ओर ध्यान देने वाले श्रावक के जीवन में पदे-2 जागरूकता आ जाती है, तथा जीवन में आवश्यक-अनावश्यक, उपयोगी-अनुपयोगी कार्यों की पहचान हो जाती है।

इसके अलावा जैन श्रावक दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, वार्षिक या प्रासंगिक रूप से कुछ व्यवस्थाएं और निर्धारित करता है जिन्हें चार शिक्षाव्रतों के माध्यम से आगमकारों ने निर्दिष्ट किया है। उनमें पहला महत्त्वपूर्ण व्रत है सामायिक। इस व्रत के अनुसार प्रत्येक जैन प्रतिदिन 48 मिनट के लिए चित्त को सामाहित करते हुए धर्माराधना, प्रभूपासना, स्वाध्याय या ध्यान में लीन होता है। इस व्रत के प्रति जैन समाज में इतनी अधिक श्रद्धा है कि कुछ उत्साही श्रावक-श्राविका दिन में 10-15 सामायिक तक करने का प्रयास करते हैं। हाँ, जैन धर्म की उन दो संप्रदायों में जिनमें साकार उपासना या पूजा के लिए मूर्तियां हैं, मंदिर है, उनमें सामायिक का अधिक प्रचलन नहीं है। उन संप्रदायों के श्रावक-श्राविका पूजा, अनुष्ठान तथा नाना प्रकार के विधानों में अपना समय और ऊर्जा समर्पित कर धर्म श्रद्धा की अभिव्यक्ति और पुष्टि कर लेते हैं। जिन दो संप्रदायों में मंदिर-मूर्त्ति का आधार नहीं है उनमें सामायिक ही धार्मिकता वृद्धि का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। आरंभ-समारंभ से मुक्त होने से निरवद्य भी है। सामायिक नित्य कृत्य है जबकि देशावकाशिक तथा पौषध नैमित्तिक कृत्य हैं। ये व्रत यदा कदा ही धारण किए जाते हैं।

देशावकाशिक व्रत अपने मूल स्वरूप में तो Camp life की तरह 7-8 दिन तक एकान्तवास सेवन रूप होता था पर धीरे-2 इस व्रत ने नए आकार-प्रकार अपना लिए। पहले यह 'दया' रूप में ढला अर्थात् 24 घंटे तक गृहस्थ जीवन छोड़कर साधु जीवन व्यतीत करना 'दया' कहलाती है। अधिकतर दया (देशावकाशिक) पालने वाले व्यक्ति तो अपना भोजन घर से ही मंगवा कर देहयात्रा चलाते हैं, पर कुछ भावुक श्रद्धालु मुनियों की तरह 'भिक्षा' लाने की प्रक्रिया भी अपनाने लगे हैं। जो व्यक्ति 24 घंटे तक परिवार मोह या शारीरिक सुविधाएं नहीं छोड़ पाते वे 12 घंटे या उससे भी कम Time तक 'दया' करने लगे। जिन श्रावकों के पास दिन का अवकाश लेने की अनुकूलता नहीं रहती पर

वे 'देशावकाशिक व्रत' की आराधना से वंचित नहीं रहना चाहते वे दया की जगह 'संवर' करने लगे हैं। 'संवर' नामक अनुष्ठान में एक गृहस्थ अपने घर की सुविधाओं का परित्याग कर रात का समय धर्मस्थान में व्यतीत करता है। कुछ समय धार्मिक माला जाप में तथा कुछ समय निद्रा में गुजारता है, पर घरेलू सुविधाएं जैसे पंखा, कूलर, A.C., Light, गद्दा, रजाई आदि छोड़ने से संवर रात्रिकालीन 'काय क्लेश' तप अवश्य बन जाता है। जो व्यक्ति दया या संवर में एक भी अपनाने में असमर्थ है, उनके लिए तीसरा रूप उभर कर आया वह है 'चौदह नियमों का प्रत्याख्यान'। ये तीसरा रूप छठे दिशा परिणाम तथा सातवें भोगोपभोग परिणाम का एकदिवसीय संस्करण है। जो नियम जीवन पर्यन्त के लिए छठे सातवें व्रत में लिए जाते हैं उन्हें एक दिन के लिए संक्षिप्ततर करके इस व्रत का निर्माण कर लिया ताकि जीवन की प्रवृत्तियां न्यून-न्यूनतर की जा सकें और त्याग का आनन्द बढ़ाया जा सके। दसवें व्रत के तीनों रूपों के अभ्यासी श्रावक-श्राविका काफी संख्या में जैन समाज में हैं, विशेषतः स्थानकवासी संघ में। श्रावक का ग्यारहवां व्रत 'पौषधोपवास' है। यह व्रत काफी कठिन है क्योंकि इस व्रत के आराधक को चौबीस घंटे के लिए आहार त्याग, व्यापार त्याग, शृंगार त्याग आदि अनेक साधनाएं करनी होती हैं। इसलिए अधिकतर श्रावक तो इस व्रत की आराधना वर्ष में केवल एक बार– संवत्सरी पर्व के अवसर पर करते हैं लेकिन ऐसे त्यागी श्रावक-श्राविकाओं की संख्या भी काफी है जो हर महीने पौषध कर लेते हैं, कुछ आत्मगवेषी तो प्रति सप्ताह भी कर लेते हैं, जो उग्र तपस्वी हो जाते हैं वे एकान्तर पौषध (Alternate days) पर भी कर लेते हैं। पौषध का अधिक प्रचलन अमूर्त्तिपूजक समाजों में है। कहीं पौषध में पानी का सेवन कर लेते हैं, कहीं वह भी निषिद्ध है। पौषध शब्द अधिक सम्मानीय होने से कहीं-2 'दया' को भी पौषध नाम देने की प्रथा चल पड़ी है और 'दया पौषध' कहकर महिमा मंडित किया जाता है।

जैन श्रावक के अंतिम बारहवें व्रत का नाम 'अतिथि संविभाग व्रत' है। यह व्रत त्यागी-तपस्वी संत मुनियों की सेवा को प्रधानता देता है। इस व्रत को निभाने वाला गृहस्थ साधु-साध्वियों को भोजन पानी तो देता (बहराता) ही है साथ ही वस्त्र-पात्र, दवाई, चौकी, पट्टा, सूखी घास (सोने-बैठने के लिए) मकान आदि की व्यवस्था भी करता है। जब से जैन मुनियों में लेखन प्रारंभ हुआ तब से गृहस्थ के देय पदार्थों में कागज, पैंसिल-स्याही, पुट्ठे, पुस्तक आदि भी सम्मिलित हो गए। शरीर और संयम में जो-2 वस्तु उपयोगी हों, उन सबको मुहैय्या करना श्रावक ने अपना कर्त्तव्य माना है। जैन श्रावक-श्राविकाओं की यह दान-शीलता केवल साधु साध्वी की सेवा तक ही सीमित नहीं रही, उसने हर जरूरतमंद व्यक्ति के लिए अपना घर और दिल खुला रखा है। कोई भी याचक जैन घरों से खाली हाथ नहीं लौटता। उसकी रसोई से हर धर्म के भिक्षु को भोजन नसीब होता है। जैन समाज ने कई जगह फ्री भोजन शालाएं चलाई हैं, जहाँ कोई भी भूखा आदमी अपना पेट भर सकता है।

साधु-साध्वी के पावन दर्शन करने आने वाले हर बंधु को जैन 'साधर्मिक भाई' कहते है और उसके आवास-भोजन की पूरी व्यवस्था की जाती है। संख्या में थोड़े होते हुए भी प्रायः हर नगर में जैन समाज की पहचान होती है क्योंकि शहर के प्रत्येक श्रेष्ठ काम में, Project में जैनों की ओर से पर्याप्त अर्थ सहयोग मिलता है। सार्वजनिक स्कूल, औषधालय, अनाथालय, पशु-पक्षी संरक्षण स्थल आदि हर उच्च कार्य में जैनों की दान वृत्ति मुखर होती है। जैन समाज के अपने मंदिरों में अरबों रुपये खर्च होते हैं तो किसी अन्य समाज से वहाँ धन की याचना नहीं की जाती, इसके विपरीत अन्य समाजों के मंदिरों, धर्मशालाओं के निर्माण पर जैनों की ओर से निःसकोच दान दिया जाता है। जैन समाज की सारे देश में एक विशिष्टता है कि कोई भी जैन बालक, युवक, वृद्ध, नर-नारी भीख मांगता हुआ नहीं मिलेगा। हाँ, दान की मिसालें बेमिसाल मिलेंगी।

श्रावक धर्म का पालन करते-2 जब कोई गृहस्थ अपने जीवन दीप को बुझने के निकट देखता है तो संलेखना संथारा ग्रहण करने को उद्यत हो जाता है। उसके चिरकालीन मनोरथों में एक मनोरथ होता है कि मैं शरीर को निर्मोह भाव के साथ छोड़कर इस संसार से विदा होऊं। संथारे में आहार का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग किया जाता है। इससे पूर्व वह सिद्ध तथा अरिहन्त भगवन्तों की स्तुति करता है फिर अपने धर्माचार्य की पावन स्मृति के साथ उन्हें वंदन करता है। वन्दना के पश्चात् साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं से अपनी विगत भूलों के लिए क्षमायाचना करता है। अपने परिवार जनों, संबंधि वर्ग तथा परिचित-अपरिचित जनता के साथ-2 संसार के प्रत्येक प्राणी से भी क्षमा मांगता है। फिर वह अपने जीवन काल में श्रावक वृत्ति के विरुद्ध किए गए प्रत्येक आचरण की आलोचना (Confession) करके उनकी शुद्धि के लिए दण्ड-प्रायश्चित लेता है। इतनी तैयारी के बाद वह जीवन के शेष काल के लिए 18 पापों का तीन करण-तीन योग से सेवन न करने की प्रतिज्ञा धारण करता है। इसके पश्चात् वह शरीर संचालन में उपयोगी आहार का (पानी सहित या पानी रहित) परित्याग कर देता है। अंततः अपने शरीर से पूर्णतः ममता दूर कर आत्मा में लीन हो जाता है। जीवन मृत्यु की कामनाओं से मुक्त हो केवल शुद्ध चेतन तत्त्व के ध्यान में निमग्न हो जीवन ज्योति को सिमटते हुए देखता रहता है। श्रावकों द्वारा संलेखना-संथारा ग्रहण करने के उदाहरण उपासकदशांग सूत्र में उपलब्ध हैं। आनन्द आदि श्रावक लगभग एक माह तक संथारा करके देवगति में जाते हैं। इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा संथारा पूर्वक मृत्युवरण को प्रामाणिक माना है। आधुनिक काल में भी स्थान-2 पर उच्चकोटि के श्रावक-श्राविकाओं ने संथारे लिए हैं। गृहस्थों के संथारे कुछ घंटों की अवधि से लेकर कई दिन, कई सप्ताह तथा कई महीनों तक चले हैं। कभी-2 अनभिज्ञ व्यक्ति संथारे को आत्महत्या कहकर दुष्प्रचार भी करते रहे हैं। कोर्ट-कचहरियों में भी संथारों की चर्चाएं हुई हैं। भारतीय लोकसभा में भी ये मुद्दा

चर्चित हुआ है। सुप्रीम कोर्ट में ये केस पड़ा हुआ है। मगर संथारा किसी भी ढंग से आत्महत्या नहीं है, यदि यह ज्ञान पूर्वक स्वयं स्वीकार किया जाता है।

जैन श्रावकों की जीवन शैली में कुछ आचरण बिन्दु तो सीधे भगवान् महावीर के निर्दशों से प्रविष्ट हुए हैं। कुछ बिन्दु समय पाकर इतिहास ने भी डाल दिए और वे मौलिक आचरण की तरह गृहस्थ जीवन में एकमेक हो गए। रात्रि भोजन का त्याग उनमें सबसे प्रमुख है। आज यह नियम श्रावकत्व का अभिन्न अंग है और हजारों तकलीफों का सामना करके भी श्रद्धालु इसका पालन करते हैं। कहीं-2 तो ऐसे भी परिवार है जहाँ रात को रसोई के ताला लग जाता है। छोटे-2 बच्चे ही नहीं, आगन्तुक मेहमान भी रात को भोजन करने की नहीं सोचते। ये विचार धारा यहाँ तक पहुंची है कि जैनों द्वारा संचालित कई गौशालाओं में गायों को भी रात्रि-भोजन त्याग का लाभ दिया जाता है।

जमींकद के रूप में उगने वाली वनस्पतियों का भोजन भी जैन श्रावकों में अनुचित माना जाने लगा और हजारों-लाखों जैन जमींकद का पूर्ण या आंशिक त्याग कर लेते हैं बेशक उन्हें कुछ Tasty Dishes छोड़नी पड़ें या कुछ स्थानों पर कभी-कभार भूखा भी रहना पड़े।

इसी तरह अचित्त जल पीना और सचित्त फल आदि का भक्षण छोड़ना भी श्रावक वर्ग में उच्च कोटि का त्याग माना जाता है। आत्म-कल्याण की तीव्र भावना से भरपूर श्रद्धालु जनता इस प्रकार के त्याग के कारण आने वाली तकलीफों को सहर्ष झेल लेते हैं।

लंबी तपस्याओं का अनुष्ठान जैनों की दूर से ही पहचान करवा देता है। कुछ जैन प्रतिदिन नवकारसी, पौरुषी आदि तप करते हैं। कुछ सप्ताह में एक उपवास या आयंबिल अवश्य करते हैं। कुछ वर्षी तप करते हैं जिसमें एक दिन तपस्या और दूसरे दिन पारणा होता है। साल, दो साल से बढ़कर इस तप को करने वाले 40-50 साल तक खींच लेते

हैं। दो-2 दिन एकान्तर का तप करने वाले जैन श्रावक-श्राविका मौजूद हैं। ऐसे भी व्यक्ति हैं जो आठ दिन, 15 दिन, महीना भर, 70-80 दिन तक निराहार रहकर तप साधना करते हैं। आगम काल में ऐसा नहीं था पर हजारों सालों से चल रहा है। तपस्या की इस बढ़ती रुचि के कारण एक नया आयाम और जुड़ने लगा है, केश लोच का। कुछ श्रावक मुनियों की तरह केश लोच करवाने लगे हैं और मुनिजन उन्हें ऐसी प्रेरणा देने लगे हैं।

श्रावक जीवन में एक बहुत Positive चर्या जुड़ी प्रतिक्रमण की। भग. महावीर के युग में श्रावक वर्ग में 'प्रतिक्रमण' का विधान नहीं था। परन्तु मुनियों के लिए अनिवार्य 'प्रतिक्रमण' भग. महावीर के निर्वाण के पश्चात् श्रावकों से भी जल्दी ही जुड़ गया। इसके माध्यम से वह अपने गृहीत व्रतों के दोषों का परिमार्जन कर लेता है। इस प्रतिक्रमण के जरिए श्रावक अपनी भक्ति भावना को पुष्ट करता रहा है। इस प्रतिक्रमण में संशोधन, परिवर्तन-परिवर्धन भी काफी हुए हैं। वर्तमान में दिगम्बर परम्परा के श्रावकों में प्रतिक्रमण नहीं है पर श्वेताम्बरों की तीनों परम्पराओं में है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर श्रावकों की साधना में एक अन्तर और है कि दिगम्बरों में श्रावक प्रतिमाएं (प्रतिज्ञाएं) अब भी प्रचलित हैं, श्वेताम्बरों में लुप्त हो गई हैं। भ. महावीर के युगीन श्रावक ग्यारह प्रतिमाएं निभाने का प्रयास करते थे, श्वेताम्बरों के अनुसार यह प्रथा उत्तरवर्ती काल में निषिद्ध हो गई, दिगम्बरों ने उसके अवशेष बचाकर रख लिए। वहाँ आज भी पांच प्रतिमाधारी श्रावक-श्राविकाएं उपलब्ध हैं। उनके जीवन में त्याग वैराग्य का स्तर बड़ा लुभावना और प्रेरक होता है।

मूल आगमों की स्वाध्याय (Study) भी जैन श्रावकों का नया feature है। तीर्थंकरों के काल में तो लिपिबद्ध आगम होते ही नहीं थे तथा जब मुनि अपने गुरुदेवों से वाचना लेते थे तब श्रावकों की उपस्थिति नहीं होती थी, केवल प्रवचन, धर्मसभा में जितना जैसा उपदेश

मिलता था, उसका लाभ श्रावक-श्राविका ले लेते थे। उनमें जो अधिक रुचि संपन्न और मेधावी होते, वे उन विषयों में विशेषज्ञता भी प्राप्त कर लेते थे, शेष स्वल्प ज्ञान एवं व्रतों से संतुष्ट रहते थे। लगभग 1000 वर्ष बाद आगमों के लिपिबद्ध होने के बाद गृहस्थों के लिए शास्त्र अध्ययन का रास्ता खुल गया। लेकिन पुस्तकों की अल्पोपलब्धि तथा प्राकृत भाषा की अज्ञानता के कारण शास्त्र फिर भी पहुंच से बाहर रहे।

श्वेताम्बर परम्परा में लोकाशाह (ईसा की 15वीं सदी) ने स्वयं आगमों का अध्ययन करके गृहस्थों के लिए आगम स्वाध्याय का मार्ग प्रशस्त किया। मुद्रण युग तथा स्थानीय भाषाओं में अनुवाद के बाद तो इस प्रक्रिया में काफी तेजी आ गई। चूंकि लोकाशाह की क्रांति ने मूर्तिपूजा पर गहरी चोट पहुंचाई थी, इसलिए मूर्तिपूजक समाज ने गृहस्थों के लिए शास्त्र स्वाध्याय की अनुमति देनी बन्द कर दी और धीरे-2 पाबन्दी ही लगा दी। शेष तीनों परम्पराओं में शास्त्र पठन चलता रहा और चल रहा है।

वर्तमान में जैन समाज ने समग्र देश में अपनी साक्षरता दर (Literacy rate) के 97-98 प्रतिशत आँकड़े से सबको चकित कर दिया है। नेत्रदान के मामले में केवल जैन धर्मावलंबियों का योगदान अन्य सबसे अधिक है। अंगदान से बढ़कर देहदान की ओर भी जैन श्रावकों ने उत्तम पहल की है। रक्तदान के Mega camps लगाने वाली भी जैन समाज है। मानवता, आध्यात्मिकता, धर्म परायणता आदि हर पहलू में अग्रणी जैन श्रावक यदि व्यापारिक, आर्थिक प्रामाणिकता के मूल्यों में भी स्वच्छता-शुचिता अपना लें तो जैन समाज सकल विश्व के लिए आदर्श समाज बन सकती है।

4. नव तत्त्व का महत्त्व

सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र तीनों मिलकर मोक्ष मार्ग बनते हैं। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन दोनों Siamese Twins की तरह अविभाज्य है। कहीं ज्ञान को तो कहीं दर्शन को पहले लिख दिया जाता है। तत्त्वार्थ सूत्र दर्शन से शुरुआत करता है, उत्तराध्ययन ज्ञान से। तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यग् दर्शन की परिभाषा करते हुए लिख दिया- "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" तत्त्वों की वास्तविकता को पकड़ने की इच्छा सम्यग्दर्शन है। उत्तराध्ययन तथा कर्मग्रंथ (प्रथम) में भी नौ तत्त्वों की श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है। यदि श्रद्धा शब्द के मूल की ओर निहारें तो भक्ति, समर्पण, भावुकता के दीदार होने लगते हैं, लेकिन जैन धर्म प्रारंभ से ही ज्ञानमार्गी झुकाव रखता रहा है इसलिए श्रद्धा के विषय भूत नवतत्त्व भी ज्ञान-ज्ञेयता के सांचे में ढल गए हैं। आज नवतत्त्व अनुभूति गम्य न रहकर बुद्धि ग्राह्य बन चुके हैं। ये श्रद्धा का विषय न रहकर ज्ञान का विषय बन चुके हैं। इन्हें पकड़ने के लिए दिल नहीं, दिमाग की जरूरत पड़ती है। इसलिए नव तत्त्व की चर्चा समझने, समझाने की दृष्टि से प्रारंभ हो रही है।

सर्वप्रथम ये समझना है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक विषय का अस्तित्त्व अपनी विरोधी वस्तु और विषय के अस्तित्त्व पर टिका हुआ है। अपने विरोधी तत्त्व के अभाव में किसी भी तत्त्व की संभावना नहीं बन सकती। इसलिए जीव है तो अजीव का होना अनिवार्य है। अजीव के बिना जीव नहीं हो सकता जैसे दिन के बिना रात नहीं हो सकती, रात के बिना दिन नहीं हो सकता। दो प्रतिपक्षी मिलकर ही एक संयुक्त वस्तु का निर्माण करते हैं। विज्ञान ने Dualistic Nature of Materialism कहकर इस तथ्य को स्वीकार किया है। अब आवश्यकता है कि नव तत्त्वों को भी Dualistic Prism (द्वन्दात्मक

परिप्रेक्ष्य) के माध्यम से समझा जाए, इसके लिए चार विरोधी Pairs (जोड़े) बना लें। 1. जीव-अजीव 2. पुण्य-पाप 3. आस्रव-संवर 4. बंध-मोक्ष। निर्जरा तत्त्व को मोक्ष का लघु अंश मानकर उसी से जोड़ा जाए और अवसर आने पर मोक्ष से अलग करके उसकी व्याख्या कर ली जाए। वस्तुतः निर्जरा आंशिक मोक्ष है, मोक्ष संपूर्ण निर्जरा है। साधक अवस्था में जिसे निर्जरा कहा जाता है, सिद्ध अवस्था में वही मोक्ष बन जाता हैं। अधूरी अवस्था निर्जरा, पूरी अवस्था मोक्ष। इसलिए चार जोड़ों से विषय बुद्धि गम्य हो सकता है। यदि हम तत्त्व का अर्थ Element लें तो तत्त्व कुल दो हैं, जीव और अजीव। यदि तत्त्व का अर्थ Essential Subjects for Knowledge लें तो तत्त्व नौ हैं। विश्व की संरचना में केवल दो ही घटक Components हैं– जीव और अजीव, Life force (Living energy) तथा Material force (Non living energy) इन दो ऊर्जाओं के अलावा विश्व कुछ भी नहीं है। **'जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए'**। पर एक अध्यात्म दृष्टि संपन्न व्यक्ति को अपने आत्म विकास के लिए इन दो तत्त्वों (विषयों) के अलावा कुछ और विषय भी जानने जरूरी हैं, जिनकी जानकारी के बगैर उसका आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है। इन विषयों की संख्या नौ है– यही नव तत्त्व है। इन नौ तत्त्वों में जीव और अजीव तथा इसके उत्तर भेदों का ज्ञान विशुद्ध रूप से साइंस से संबंधित है तथा शेष सात तत्त्वों का ज्ञान अध्यात्म (Spirituality) से जुड़ा हुआ है। समग्र नौ तत्त्वों में विज्ञान और अध्यात्म दोनों का समन्वय समाविष्ट हो जाता है। पुरातन विज्ञान अजीव से अपनी यात्रा प्रारंभ करता रहा है। पर अब आधुनिक विज्ञान को अजीव से पहले जीव की चर्चा अवश्य करनी पड़ेगी। क्योंकि विज्ञान इस Point पर आ गया कि Matter तभी संभव हो सकता है जब Anti matter हो। इसी Anti matter को जैन धर्म ने 'जीव' कहा है। विज्ञान Matter से प्रारंभ करके Anti matter पर आता है। जैन धर्म जीव से प्रारंभ करके अजीव पर पहुंचता है। दोनों तत्त्व मिलकर सृष्टि का निर्माण करते हैं। जीव में आत्म-विकास की संभावना है अजीव में

नहीं। अजीव जीव की गति प्रगति में सहायक या बाधक बन सकता है मगर स्वयं प्रगति का कर्ता नहीं बन सकता। अनुभूति की क्षमता जीव में होती है, अजीव में नहीं। इस अनुभूति क्षमता की न्यूनाधिकता (grades) के आधार पर जीवों का वर्गीकरण किया जाता है। जो अनुभूति क्षमता के निम्नतम स्तर पर हैं वे जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं तथा जिनकी अनुभूति क्षमता उच्चतम स्तर की होती है या हो सकती है; वे पंचेन्द्रिय होते हैं। दोनों के बीच के जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों तथा पंचेन्द्रिय जीवों के भी दो-2 स्तर होते हैं। एकेन्द्रिय के सूक्ष्म और बादर तथा पंचेन्द्रिय जीवों के संज्ञी और असंज्ञी। यों Practically देखें तो चेतना शक्ति के विकास के आधार पर सात तरह के जीव होते हैं। फिर ये सातों प्रकार के जीव अपर्याप्त तथा पर्याप्त दो तरह का जीवन व्यतीत करते हैं। इस साधारण गणित से देखें तो जीव के चौदह भेद होते हैं। यद्यपि जीव तत्त्व की व्याख्या करते हुए इसको कई विधियों से, कई भेदों में बांटा गया है पर अति प्रचलित भेद 14 ही हैं। एकेन्द्रिय जीव वे होते हैं जिनके पास अनुभूति प्राप्त करने के लिए केवल शरीर मात्र है, जिनके शरीर का कोई विशेष अंग, विशेष अनुभूति क्षमता नहीं रखता। जैसे मानव के शरीर में आंखें हैं, कान हैं, नाक और जीभ हैं। ये स्थल, इन स्थलों के परमाणु (Cells) विशेष प्रकार की सूचनाएं मानव चेतना तक पहुंचाने का सामर्थ्य रखते हैं, परन्तु एकेन्द्रिय जीवों के पास ये योग्यताएं नहीं हैं। उनके पास केवल General feeling की क्षमता होती है, किसी प्रकार का Specialization एकेन्द्रियों में नहीं होता। उन जीवों में अव्यक्त किस्म की चेतना ही होती है। जैसे मूर्च्छा coma में जाने पर मानव शरीर में जीवन्तता तो होती है पर अनुभूति की क्षमता नहीं होती, कुछ ऐसी ही स्थिति एकेन्द्रिय जीवों की होती है। विज्ञान ने जैन धर्म में मान्य किए गए एकेन्द्रिय जीवों में मात्र वनस्पति में ही जीवन शक्ति का अस्तित्त्व मान्य किया। पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु को एकेन्द्रिय मानते हुए जैन धर्म ने इनमें प्राण शक्ति, जीवन शक्ति, अनुभूति क्षमता

को स्वीकार किया है। विज्ञान इस तथ्य को अभी स्वीकार नहीं कर पाया है क्योंकि वैज्ञानिक उपकरणों ने इनकी जीवन शक्ति को अभी तक पकड़ा नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जिसे मानव जाति जान पा रही है, वह बहुत स्थूल किस्म की है जिसे जैन धर्म ने 'बादर एकेन्द्रिय' नाम दिया है। जैनों के अनुसार एकेन्द्रिय जीव ऐसे भी होते हैं जिनको देख पाना, छू पाना सामान्य मानव के लिए संभव ही नहीं। ऐसे पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-वनस्पति के शरीर इतने सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें पकड़ना न मानव के वश की बात है, न तीव्र शक्तिशाली Microscopes के वश की। इसी सूक्ष्मता के कारण पांचों प्रकार के सूक्ष्म प्राणी एक स्थान पर साथ-2 रहते हैं पर एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। जैसे सूक्ष्म अग्नि और सूक्ष्म जल साथ-2 रहते हैं पर सूक्ष्म जल में सूक्ष्म अग्नि को बुझाने की क्षमता-योग्यता नहीं है। सूक्ष्म वायु सूक्ष्म अग्नि को भड़का नहीं सकती, सूक्ष्म अग्नि सूक्ष्म वनस्पति को जला नहीं सकती। जिस प्रकार ये सूक्ष्म जीव दूसरे सूक्ष्म जीवों पर प्रभाव नहीं डालते, ऐसे ही ये स्थूल (बादर) जीवों पर भी प्रभाव नहीं डालते तथा Vice versa स्थूल जीव भी सूक्ष्म जीवों पर प्रभाव नहीं डालते। इतने सूक्ष्म जीवों के शरीर की संवेदना शक्ति कितनी मंद होगी, इसकी कल्पना भी साथ-2 कर लेनी चाहिए। इस तरह न्यूनतम अनुभूति सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में होती है, उससे कुछ अधिक बादर एकेन्द्रिय में तथा उनसे अधिक तथा स्पष्टतर अनुभूति द्वीन्द्रिय जीवों में होती है। एकेन्द्रिय जीवों से द्वीन्द्रिय जीवों में चेतना का विकास मात्रात्मक तथा गुणात्मक दोनों स्तरों पर विशिष्टतर होता है। पहला विकास तो ये होता है कि द्वीन्द्रिय जीव अपनी जीभ से आहार का स्वाद जान सकते हैं, एकेन्द्रिय नहीं, दूसरा विकास ये कि द्वीन्द्रिय जीव अपनी जीवन यात्रा के संचालन के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन कर सकते हैं, एकेन्द्रिय नहीं। अपनी शारीरिक चेष्टा के कारण इन्हें संसार का प्रत्येक व्यक्ति जीवित मानता है। जबकि एकेन्द्रियों को सामान्य मानव जीवित नहीं समझता। द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय जीवों में सूंघने की अतिरिक्त

क्षमता पनप जाती है तथा चतुरिन्द्रियों में सूंघने के अलावा देखने की शक्ति भी आ जाती है। पंचेन्द्रिय जीव पांचवी ताकत के मालिक भी हो जाते हैं। वे सुन सकते है क्योंकि उनके पास कान होते हैं। इन पंचेन्द्रिय जीवों को भी जैन धर्म ने दो रूपों में विभाजित किया है। 1. असंज्ञी पंचेन्द्रिय 2. संज्ञी पंचेन्द्रिय। इस विभाजन को अभी विज्ञान की स्वीकृति नहीं मिली है, केवल शास्त्रीय प्रमाण से ही ये द्विरूपता स्वीकार की जाएगी। जैसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों का अस्तित्त्व विज्ञान की पकड़ से बाहर है, ऐसे ही असंज्ञी पंचेन्द्रियों का अस्तित्त्व विज्ञान की धारणा से परे है। जिन पंचेन्द्रिय जीवों की Mental Power पूर्णतः विकसित हो सकती हो, वे संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं तथा जिनकी Mental power विकसित नहीं हो या अत्यल्प हो, केवल Sense power ही जिनकी चरम उपलब्धि हो वे असंज्ञी जीव होते हैं। असंज्ञी अवस्था में ही रहने का प्रमुख कारण ये बताया है कि इनका जन्म गर्भाधान प्रक्रिया के बिना ही केवल वायुमंडल में पड़े fossils के संयोग से होता है। इसलिए इनमें Neurological Transmission तथा Reception की power नहीं होती। जो जीव गर्भाधान प्रक्रिया से (conception) से पैदा होते हैं ऐसे पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी कहलाते हैं। विज्ञान पहली धारणा से अभी तक तो सहमत नहीं है क्योंकि विज्ञानानुसार कोई भी Birth without conception होता ही नहीं। संभव है, कल विचारधारा में परिवर्तन हो जाए।

चेतना के विकास के आधार पर जीव के इन सातों रूपों को आगे अपर्याप्त तथा पर्याप्त रूप में पुनः विभाजित किया है। इस विभाजन को विज्ञान की ओर से पूरा समर्थन है। डार्विन तथा दूसरे Medical Scientists, Biologists कहते हैं कि उत्पत्ति के प्रत्येक स्थल पर एक बार में बेशुमार जीवों की उत्पत्ति होती है, उनमें से कोई एक दो प्राणी जीवित रह पाता है, शेष सभी तत्काल नष्ट हो जाते है। इस सिद्धान्त को 'Survival of the strongest' के नाम से प्रस्तुत किया जाता है।

जिन प्राणियों ने जन्म लिया और मर गए वे अपर्याप्त तथा जिन जीवों ने जन्म लिया, जीवन जिया, फिर मृत्यु को प्राप्त किया वे जीव पर्याप्त होते हैं। Birth and death ये दो घटनाएं घटित होती हैं अपर्याप्त में; Birth, life and death ये तीन घटनाएं होती हैं पर्याप्त में। सातों प्रकार के जीवों में कुछ ही जीव पर्याप्त Level पर पहुंचते हैं, अधिकांश अपर्याप्त अवस्था में ही विदा हो जाते हैं। ये प्रथम तत्त्व जीव का संक्षिप्त विवेचन है।

अब अजीव तत्त्व की ओर रुख करें, जो पूर्णतः विज्ञान का ही Subject matter है। विज्ञान ने Matter को ही पारमार्थिक रूप से सत्य माना है। मैटर को जैन दर्शन ने पुद्गल नाम दिया है। विज्ञान ने Matter का विस्तार करते-2 Time and space, काल और आकाश का अस्तित्व भी स्वीकारा है। जैन धर्म ने काल और आकाश के अलावा धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय नामक दूसरे दो निर्जीव पदार्थों की भी प्रतिपादना की है। इस तरह जैन शास्त्रों में अजीव के हिस्से में पांच तत्त्व आ जाते हैं। जिनमें चार अरूपी, अदृश्य, इन्द्रियों तथा यंत्रों से अग्राह्य होते हैं, केवल पुद्गल ही इन्द्रियों की पकड़ में आ सकता है। क्योंकि पुद्गल में ही वर्ण गंध, रस और स्पर्श ये गुणवत्ताएं होती हैं तथा इन्द्रियां इन्हीं को समझती और जानती हैं। चूंकि विज्ञान इन्द्रियों तथा यंत्रों से सिद्ध होने वाले पदार्थों को ही सत्य मानता है, इसलिए उसने पुद्गल को ही सत्य माना है। चूंकि, विज्ञान ने तर्क को भी सत्य की स्थापना में सहायक माना है, इस कारण पुद्गल के आधार-भूत आकाश को तथा पुद्गल के परिवर्तनकारी कारण काल को भी उसने मान्यता दे दी। इसी तर्ज पर जैन धर्म ने तर्क का अवलम्बन लेते हुए पुद्गल की गति (Motion) तथा स्थिति (Stability) के माध्यम को माना है। (पुद्गल की तरह जीव की गति और स्थिरता का माध्यम भी साथ-2 समझें) गति के माध्यम को धर्मास्तिकाय तथा स्थिति (स्थिरता) के माध्यम को अधर्मास्तिकाय नाम दिया है। उपमा के जरिए

समझना है तो ये समझें। नौका को चलने के लिए जल का माध्यम आवश्यक है तथा नौका को स्थिर करने के लिए जलाभाव (स्थल) आवश्यक है। ऐसे ही पुद्गल और जीवों की गति में माध्यम बनने वाला तत्त्व धर्मास्तिकाय है तथा स्थिरता में माध्यम बनने वाला तत्त्व अधर्मास्तिकाय है। आकाश अन्य सभी तत्त्वों को अपने में समाविष्ट करने वाला तत्त्व है, यह सृष्टि (Cosmos) में और सृष्टि से बाहर भी विद्यमान होता है जबकि धर्मास्ति, अधर्मास्ति केवल cosmos सृष्टि में होते हैं। आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय ये तीनों निर्जीव तथा अदृश्य इन्द्रियातीत तत्त्व हैं। तीनों एक अखण्ड, स्वतंत्र एवं व्यापक अस्तित्व रखते हैं। धर्मास्तिकाय संपूर्ण लोकव्यापी एक तत्त्व है तथा यह असंख्य (Numberless) प्रदेशों का संयुक्त अविभाज्य समूह है। समग्र धर्मास्तिकाय को 'धर्मास्तिकाय स्कन्ध' कहा जाता है। इस धर्मास्तिकाय की सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाई को, जिनके अविभाजित संयोग से धर्मास्तिकाय बना है, धर्मास्तिकाय का प्रदेश कहते है तथा दो तीन या उससे अधिक प्रदेशों के समूह को धर्मास्तिकाय का देश कहा जाता है। इस तरह धर्मास्तिकाय एक होते हुए भी बौद्धिक समझ के लिए तीन रूप में प्रस्तुत हो गया– धर्मास्तिकाय स्कन्ध, धर्मास्तिकाय देश तथा धर्मास्तिकाय प्रदेश। पूरा का पूरा धर्मास्तिकाय हुआ स्कन्ध, उससे कुछ कम और कम, घटते-2 दो प्रदेशों तक जितने भी टुकड़े कल्पित किए जा सकते हैं उतने देश तथा अंतिम सबसे छोटा, सूक्ष्मतम टुकड़ा प्रदेश है। जिस तरह धर्मास्तिकाय तीन रूपों में कल्पित किया जाता है ऐसे ही अधर्मास्तिकाय को भी तीन रूपों में समझा जाता है। जीव तथा पुद्गलों की स्थिरता में माध्यम बना लोक व्यापी स्कन्ध अधर्मास्तिकाय होता है, उस स्कन्ध से कुछ छोटा अधर्मास्तिकाय देश है, ऐसे छोटे-2 टुकड़े असंख्य किए जा सकते हैं, वे सभी अधर्मास्तिकाय के देश हैं तथा सूक्ष्मतम प्रदेश कहलाते हैं, वे प्रदेश भी अंसख्य हैं। स्कन्ध एक होता है, प्रदेशों की संख्या असंख्य होते हुए भी 'निश्चित' असंख्य है जबकि देश एक दो तीन से बढ़ते-2 हजार लाख ही नहीं असंख्य भी हो सकते

हैं। यही स्वरूप आकाशास्तिकाय का है। वह भी स्कन्ध देश और प्रदेशों में विभाजित किया जाता है। अन्तर केवल ये है कि धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय के स्कन्ध लोकव्यापी होते हैं तथा दोनों के अलग-2 असंख्य प्रदेश होते हैं जबकि आकाशास्तिकाय का स्कन्ध लोकालोक व्यापी होता है एवं इसके प्रदेश अनंत होते हैं।[1]

आकाशास्तिकाय अपने में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि को समावेश देता है। उदाहरणार्थः— दूध में चीनी घुल जाती है, पानी में नमक घुल जाता है, इन पदार्थों ने अपने में दूसरे तत्त्व को स्थान दिया, यों ही प्रत्येक पदार्थ को स्थान देने का काम आकाशास्तिकाय का है।

अजीव का चौथा तत्त्व काल है। प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता है, लेकिन उस परिवर्तन का Silent कारण (Catalyst Agent) काल को माना जाता है। धरती में बोया हुआ बीज अंकुर वृक्ष, फूल या फल बनता है, इस परिवर्तन में मुख्य योगदान तो बीज के स्वभाव, जमीन के Minerals, जलीय आर्द्रता, सूर्य प्रकाश आदि का होता है, परन्तु परोक्ष योगदान काल का भी माना जाता है। काल उन परिवर्तनों को क्रमिकता प्रदान करता है, पूर्वापरता देता है 'कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः' काल तत्त्व भौतिक पदार्थों को परिपक्वता देता है तथा सभी जीवों का संहार भी करता है। वह शस्त्र बनकर जीवों का संहार

---

1 (असंख्य और अनन्त में अन्तरः— जैन गणना पद्धति के अनुसार 194 अंक (digits) तक की संख्या संख्यात कहलाती है, उससे ऊपर की संख्या असंख्यात कहलाती है जबकि अनन्त तो असंख्यात को असंख्यात से असंख्यात बार गुणा करने पर भी उपलब्ध नहीं हो सकता। जब प्रत्येक कल्पना थक जाए, वह होता है अनन्त। आकाशास्तिकाय के स्कन्ध का कोई ओर छोर नहीं है, सीमा नहीं है और उसके प्रदेशों की संख्या का कभी अंत नहीं आ सकता। जबकि धर्मास्ति-अधर्मास्ति के प्रदेश असंख्य है पर उनकी आखिरी सीमा है। असंख्य (Numberless, beyond the limit of numbers). अनन्त (Endless, Infinite, No beginning no end).

तो नहीं करता फिर भी काल को समझाने के लिए कैंची की उपमा दी जाती है। जैसे कैंची कपड़े को काट कर छोटा कर देती है, ऐसे ही काल भी प्रजा-जीवन को काटता जाता है और जीवन-विस्तार को न्यून करता जाता है।

काल तत्त्व के संबंध में जैन दर्शन ने अन्य तत्त्वों से कुछ विलक्षण बातें बताई हैं। सबसे अधिक उल्लेखनीय तो ये है कि यह तत्त्व धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय की तरह स्कन्ध रूप नहीं है अपितु यह बिखरे हुए प्रदेशों का नाम है। दूसरी बात इन प्रदेशों का अस्तित्त्व त्रिकालवर्ती नहीं होता है। काल के जो प्रदेश अतीत में थे वे अब नहीं हैं, और जो अब हैं वे अनागत में नहीं मिलेगें। काल की इन दोनों विशेषताओं को यों समझेंः—

किसी इलाके में काल विकास का कारण बन रहा है तो अन्य इलाके में ह्रास का। काल किसी एक व्यक्ति को युवावस्था में भेज रहा है तो अन्य व्यक्ति को वार्धक्य की ओर, किसी को मृत्यु की ओर तो किसी को जन्म की ओर। काल किसी फसल को उगवा रहा है तो अन्य फसल को कटवा रहा है। यों काल सर्वत्र एक रूप नहीं है जबकि धर्मास्तिकाय आदि सर्वलोक में अपना-2 एक ही काम करते हैं। दूसरी बात ये कि जीव और पुदग्ल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय के एक विभाग पर कुछ समय रहकर आगे चला जाए फिर कालान्तर में उसी विभाग पर पुनः आ सकते हैं, जबकि जीव और पुद्गल काल के एक प्रदेश को एक बार स्पर्श करके दोबारा उस काल (प्रदेश) को अधिगत, अधिकृत तथा स्पृष्ट नहीं कर सकते। काल के प्रदेश न तो क्षेत्रीय रूप में परस्पर जुड़े हुए हैं न कालिक दृष्टि से जुड़े रहते हैं। इसलिए इसे 'कालास्तिकाय' न कहकर मात्र 'काल' कहा जाता है।

अजीव का पांचवा तत्त्व पुद्गल है, जो मूर्त है, ठोस है, इन्द्रिय ग्राह्य है तथा जिसका अस्तित्त्व निर्विवाद है। पुद्गल का सबसे छोटा रूप प्रदेश

है, उसे परमाणु भी कहा जाता है। यह परमाणु Electrons, Protons, Neutrons से भी सूक्ष्म होता है। नए आविष्कारों से प्रसिद्धि में आये हुए Higgs boson (God Particle) से भी सूक्ष्म परमाणु होता है। दो-दस-बीस-लाख-क्रोड़-असंख्य-अनन्त परमाणुओं का जोड़ होने पर वह स्कन्ध या देश कहलाता है। उदाहरणार्थ– सौ परमाणुओं के संयोग से एक स्कन्ध बन गया तो उस स्कन्ध के दो से लेकर 99 तक 98 परमाणु देश कहला सकते हैं। एक जुड़ा हुआ परमाणु प्रदेश, सौ जुड़े हुए परमाणु स्कन्ध और बीच में स्वेच्छा से जितने भी देशों की कल्पना की जा सकती है। स्कन्ध से जुड़ने पर परमाणु को प्रदेश कह दिया जाता है, अलग रहने पर उसे परमाणु कहते हैं। प्रदेश और परमाणु में इतना सा ही अन्तर है। सृष्टि में अनन्तान्त परमाणु हैं तथा अनन्तानन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं, लोक का कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ पुद्गल स्कन्ध और पुद्गल परमाणु न हों। इस अपेक्षा से पुद्गल या पुद्गलास्तिकाय लोकव्यापी हैं परन्तु धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय की तरह कोई एक पुद्गल स्कन्ध सर्वलोक व्यापी हर समय नहीं मिलता। हाँ, अनन्त काल में कभी-2 अचित्त महास्कन्ध नामक अकेला पुद्गल स्कन्ध पल भर के लिए सर्वलोकव्यापी हो सकता है, ऐसी जैन मान्यता है।

मिट्टी, पानी अग्नि, हवाएं, चांद-तारे, प्रकाश, अंधकार, धूप, छाया, ध्वनि जितना भी दृश्य जगत् है, सब पुद्गलमय है। हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, हीलियम, यूरेनियम, प्लूटोनियम आदि सब पदार्थ परमाणुओं की ही रचनाएं हैं। Sound waves, Electro-Magnetic waves, x-ray, laser light waves सब पौद्गलिक वस्तुएं हैं।

जैनधर्म ने पुद्गलों को 8 वर्गों में (वर्गणाओं में) वर्गीकृत किया है। 1. औदारिक 2. वैक्रिय 3. आहारक 4. श्वासोच्छवास 5. भाषा 6. मन 7. तैजस 8. कर्म।

मनुष्य, पशु-पक्षी, सरीसृप Reptiles, कीड़े Insects तथा स्थावर जीवों के शरीरों की कोशिकाओं (cells) का निर्माण औदारिक पुद्गलों से बनता है। देवताओं तथा नरक के प्राणिओं का शरीर वैक्रिय पुद्गलों से बनता है। विशिष्ट ज्ञानी और विशिष्ट लब्धि संपन्न किसी मुनि विशेष द्वारा बनाए गए शरीर विशेष के निर्माण के लिए आहारक पुद्गल काम आते हैं। समस्त जीव राशि अपने शरीर की सुरक्षा तथा आयुष्य की Maintenance के लिए सांस लेती है और छोड़ती है उस प्रक्रिया को संपन्न करवाने वाले पुद्गल श्वासोच्छ्वास वर्गणा वाले होते हैं। बोलने में काम आने वाले पुद्गल भाषा वर्गणा के कहलाते हैं, संभवतः sound waves भाषा वर्गणाओं का ही रूप हों। चिंतन में सहयोगी पुद्गल जो विचारों का रूप धारण करते हैं, उन्हें मनो वर्गणा का नाम दिया जाता है। जिन पुद्गलों से Electric Body बनती हो वे पुद्गल तैजस पुद्गल हैं। ये पुद्गल ही विविध प्रकार की Energies के उत्पादन में प्रयुक्त होते हैं। आत्मा के मौलिक गुणों को प्रभावित करने की क्षमता जिन पुद्गलों में है वे पुद्गल 'कर्म पुद्गल' हैं, ये सर्वाधिक सूक्ष्म होते हैं, अदृश्य और अरूपी होते हैं।

चेतना का Direct संबंध केवल कर्म पुद्गलों से हो सकता है, अन्य पुद्गलों से नहीं। चेतना इन कर्म पुद्गलों में अपनी Power Transfer भी कर सकती है तथा इन पुद्गलों की power को Receive भी कर सकती है। विज्ञान अभी कर्म पुद्गल को (Karmic waves) को समझ नहीं पाया है, संभावना है भविष्य में पकड़ सके।

जीव और अजीव के पश्चात पुण्य-पाप आदि सात तत्त्वों की चर्चा शेष है। उनकी चर्चा से पूर्व नौ तत्त्वों के एक विशेष विभाजन की ओर दृष्टिपात कर लें। ज्ञेय-हेय-उपादेय के रूप में नौ तत्त्वों को बांटने की परंपरा कुछ समय से चली आ रही है। चूंकि, आगमों में इस तरह का कोई विभाजन नहीं मिलता, इसलिए अलग-2 चिंतकों ने अपने-2 ढंग से वर्गीकरण कर दिया है। जो तत्त्व केवल बुद्धि के विषय हों, विज्ञान के

दायरे में आते हों, वे तत्त्व ज्ञेय होते हैं तथा जो तत्त्व आध्यात्मिक जीवन में उपयोगी या अनुपयोगी बनते होते हों, वह उपादेय और हेय होते हैं। ज्ञेय Subject Matter of Knowledge उपादेय Subject Matter of Acceptance हेय Subject Matter of Rejection. इन नौ तत्त्वों में केवल पहले दो तत्त्व विज्ञान की परिधि में आते हैं अतः यह दो तो ज्ञेय हैं। शेष सात में से चार आध्यात्मिक उत्थान के कारण हैं अतः उपादेय हैं और तीन आध्यात्मिक उत्थान में बाधक हैं, अतः ये हेय हैं।

पाप-पुण्य, आस्रव-संवर, बंध-मोक्ष (निर्जरा सहित मोक्ष) इन तीन जोड़ों में तीन हेय हैं, तीन उपादेय हैं। पुण्य को लेकर कुछ मतभेद रहा है, अतः पुण्य का विशेष उल्लेख करते हुए यहां इसे उपादेय के कोटे में डाला है।

धार्मिक जगत में अधिकतर लोग मोक्ष के मार्ग को पुण्य (अच्छा) तथा बंध के मार्ग को पाप (बुरा) कहते हैं। परंतु जैनों की Technical Terminology में बंध का कारण आस्रव तथा मोक्ष का उपाय संवर कहलाता है।

जैन धर्म में पुण्य और पाप शब्दों की उपेक्षा करके आस्रव तथा संवर शब्दों पर ज्यादा ज़ोर दिया जाता है। अच्छाई को संवर, बुराई को आस्रव कहने वाले कुछ जैन आचार्यों ने (तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति आदि ने) तो तत्त्व सात ही माने हैं। पुण्य-पाप का ज़िक्र ही नहीं किया। लेकिन बहुसंख्यक लेखकों ने पुण्य-पाप को भी तत्त्वों में स्थान दिया है।

फिर समस्या आई कि पुण्य पाप का शेष तत्त्वों के साथ तालमेल कैसे बैठाया जाए। किसी ने दोनों को बंध के खेमे में डाल दिया तो किसी ने आस्रव के। शायद ऐसा करना वाजिव नहीं था। क्योंकि ऐसा करने से पुण्य हेय कहलाएगा।

किसी-2 चिन्तक ने आस्रव तथा पाप में, संवर और पुण्य में नजदीकी दिखाई और कहा- सामाजिक अच्छाई पुण्य है, आध्यात्मिक अच्छाई संवर है, उन्होंने पुण्य को Social Development से जोड़ दिया और संवर को Spiritual Development से। जबकि आगमों में ऐसी परिभाषा दृष्टिगोचर नहीं होती। पुण्य और संवर अच्छाई के ही दो नाम हैं, दो पहलू हैं ऐसे ही पाप और आस्रव बुराई के दो नाम या दो पहलू हैं। अच्छाई का Positive नाम है पुण्य, Negative नाम है संवर। अच्छे काम करना पुण्य है, बुरे काम न करना संवर है। दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं क्योंकि जो अच्छा काम करता है, वह बुरे काम से बचता है- जो बुरे काम से बचता है वह अच्छा काम कर सकता है। मन, वचन काया की शुभ में प्रवृत्ति पुण्य, अशुभ से निवृत्ति संवर है। ऐसे ही बुराई में प्रवृत्त होना पाप है तथा अच्छाई से दूर हटना आस्रव है। Positive evil पाप है, Negative evil आस्रव है। अच्छाई से दूर रहने वाला बुराई में ढल जाता है और बुराई में ढलने वाला अच्छाई से कोसों दूर हो जाता है। ये भाव अन्योन्याश्रित हैं। इसलिए यहाँ पुण्य को संवर, मोक्ष (निर्जरा सहित) के साथ उपादेय की श्रेणी में रखा है तथा पाप, आस्रव और बंध को हेय की श्रेणी में।

पुण्य के असंख्य प्रकार हो सकते हैं परन्तु नौ प्रकार के पुण्यों में शेष प्रकार समाविष्ट हो जाते हैं। हर प्राणी की पहली मांग भोजन है, उसकी पूर्ति अन्न और पानी से होती है। अन्न और जल का प्रबन्ध करने वाला मानव हर जीवन्त प्राणी के प्रति करुणा से ओत प्रोत होता है, वह करुणा उसके मन को मृदु-अहिंसक एवं उदार बनाती है। करुणार्द्र मन अपनी भूख, प्यास, सुख-सुविधा के प्रति उदासीन तथा सृष्टि के अन्य प्राणियों के प्रति सचेष्ट हो जाता है। मन की इस करुणा के कारण वह अपने अधीन रहने वाली वस्तुओं के प्रति मोहासक्ति एवं अधिकार भावना का भी त्याग करता है ऐसी स्थिति में तन और मन अशुभ प्रवृत्तियों से पीछे भी हटते हैं। सेवा का एक पवित्र भाव

कई दिशाओं को आलोकित कर देता है। सेवा करने वाला धन्य होता है, सेवा लेने वाला धन्य होता है। सेवा करने वाला मोह-त्याग एवं अहिंसक सोच से पुराने कर्मों को कम करता है, सेवा के समय अशुभ कार्यों से बचने की वजह से संवर में रहता है तथा तन मन की शुभ प्रवृत्ति से शुभता का अर्जन करता है। एक ही क्रिया से उसे त्रिआयामी सफलता (Three Dimensional Success) मिलती है। पुण्य, संवर तथा निर्जरा (लघुमोक्ष) तीनों कार्य सिद्ध करता है सेवा करने वाला। सेवा लेने वाला भी आर्त्त-रौद्र ध्यान से बच जाता है इसलिए सर्वप्रथम अन्न और पान दो पुण्य बताए हैं। गृहस्थ तो अन्न और पान पुण्य का लाभ ले ही सकता है, मुनि भी अपने सहवर्ती मुनियों के लिए आहार-पानी का प्रबन्ध करके इस पुण्य कर्म को संपादित कर सकता है। लयन और शयन पुण्य मकान तथा विश्राम के साधन मुहैय्या करने से होता है। वस्त्र पुण्य भी वस्त्रों के दान या प्रबन्ध से होता है। मन में सकल जीव राशि के लिए हित कामना करना मन पुण्य है, वचन पुण्य मधुर आह्लादक, उत्साहप्रद भाषा बोलने से होता है, काया पुण्य स्व शरीर से किसी को साता पहुंचाने से प्राप्त होता है। वृद्ध, रोगी, अशक्त मनुष्यों पशु-पक्षियों की वैयावृत्य करना काया पुण्य है। अपने शरीर का रक्त या गुर्दे, नेत्र आदि अंग किसी के कल्याणार्थ सुपुर्द करना इसी पुण्य का विस्तृत रूप है। मरणोपरान्त देहदान का संकल्प भी काया पुण्य बन सकता है। नमस्कार पुण्य के अंतर्गत एक व्यक्ति किसी भी व्यक्ति को सत्कार-सम्मान दे सकता है। पूज्य पुरुषों को नमन करना भी नमस्कार पुण्य है तो समाज के उपेक्षित वर्ग के व्यक्तियों को समानता के धरातल पर सम्मानित करना भी नमस्कार पुण्य ही है। अन्न से नमस्कार तक नौ के नौ पुण्य साधु-साध्वी जैसे विशिष्ट संयमी आत्माओं के प्रति करने से विशिष्ट गुणवत्ता को प्राप्त होते हैं तो जनसामान्य के प्रति किए जाने पर भी लाभदायक होते ही होते हैं, आत्मा को महान बनाते हैं। पुण्य का कार्य संपादित करने के लिए साधन जुटाने वाले को पाप नहीं लगता। यदि कोई भूखे को भोजन देने के लिए खाना बनाता है, प्यासे

की प्यास बुझाने के लिए जल का प्रबंध करता है तो एकेन्द्रिय हिंसा का अपराधी नहीं है। उसका मानसिक भाव किसी की पीड़ा न्यून करने का होता है, एकेन्द्रियादि जीवों को मारने का नहीं। जो व्यक्ति जल फल आदि की हिंसा का बहाना बनाकर भूखे प्यासे जीवों की रक्षा से बचते हैं, उनके हृदय में दया भावना सूख जाती है। जिन्हें भूख प्यास से तड़पते मानव की पीड़ा समझ नहीं आती उन्हें जल-फल आदि के जीवों की पीड़ा समझ आती होगी ये भी बहुत बड़ा प्रश्न है।

गृहस्थ और साधु दोनों की धर्म पद्धति में एक अन्तर अवश्य है कि गृहस्थ सत्प्रवृत्ति रूप पुण्य क्रियाओं में अधिक बढ़ सकता है जबकि साधु निवृत्ति रूप संवर क्रियाओं में अधिक बढ़ सकता है लेकिन इससे ये नहीं कहा जा सकता कि पहला मार्ग गलत है और दूसरा सही और न ही इससे उल्ट कहा जा सकता।

कुछ चिन्तकों ने तो पुण्य तथा पाप दोनों क्रियाओं को समकक्ष खड़ा करके तत्त्व मीमांसा में काफी संदिग्धता बना दी। उनके अनुसार दोनों ही बंधन है और हेय हैं, उपमा देते हुए उन्होंने कहा कि सोने की हो या लोहे की, बेड़ी तो बेड़ी ही है, मानव की गति को अवरुद्ध करती है, क्योंकि पुण्य आत्म-प्रगति में बाधक है। यह चिन्तन मूल रूप में ही विकृत है, क्योंकि पुण्य आत्मा को पावन करता है, पाप आत्मा का पतन करता है। पुण्य-पाप परस्पर विरोधी तत्त्व हैं, प्रकाश और अधंकार की तरह। यदि पुण्य कार्यों को आत्म विरोधी तत्त्व समझा या बताया जाएगा फिर तो निर्जरा के उपायों में वर्णित वैयावृत्य भी हेय और परित्याज्य कहलाएगी क्योंकि वैयावृत्य से 'तीर्थंकर' प्रकृति की उपलब्धि उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित है।

नौ प्रकार के पुण्य करने से जीवात्मा को 42 प्रकार की अनुकूलताएं प्राप्त हो सकती हैं। "कल्याण करना तो जिन धर्म पालो, करो पुण्य नौ, अठारह पापों को टालो"।

पुण्य का विरोधी तत्त्व पाप है, इनके माध्यम से जीवात्मा सृष्टि में प्रदूषण फैलाता है और स्वयं के मूल स्वभाव को विकृत कर लेता है तथा अपने स्तर को भी नीचे गिरा लेता है। यह पाप अठारह तरीकों से अपना दमन चक्र चलाता है। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन (भोग वासना) परिग्रह इन पांच प्रकार के आचरणों से आत्मा और समाज में असंतुलन बनता है। इसलिए ये पाप हैं। इन पांचों पापों की पृष्ठभूमि निर्मित होती है चार प्रकार की मानसिक उत्तेजनाओं से जिन्हें कषाय कहा जाता है उनके नाम हैं– क्रोध, मान, माया और लोभ।

फिर इन चार कषायों के उद्गम स्रोत की ओर झांके तो मन के दो दोष पकड़ में आते हैं वे हैं राग एवं द्वेष। घटना क्रम, विषय वस्तु, व्यक्ति, व्यवहार के प्रति मन की स्वीकृति रूप प्रतिक्रिया राग है, निषेध रूप प्रतिक्रिया द्वेष है। स्थूल रूप से इन 11 पापों में मानसिक धरातल का खाका प्रकट हो जाता है। इनसे अगले चार पाप सामाजिक, पारिवारिक संबंधों की विकृति में अहम रोल अदा करते हैं, इसलिए उनमें प्रवृत्त होना भी पाप है। कलह है– अन्य की शांति भंग करना। अभ्याख्यान है– किसी पर असत्य आरोप लगाना। पैशुन्य है– किसी की परोक्ष में बुराई करना, किसी के विरुद्ध माहौल तैयार करना। पर-परिवाद है– अपने से भिन्न व्यक्ति के सद्गुणों की उपेक्षा कर केवल दोष-दुर्गुणों की ही चर्चा चालू रखना। इस प्रकार के व्यवहारों से वातावरण विक्षुब्ध होता है तथा मानसिक संघर्ष प्रारंभ हो जाते हैं। सोलहवां पाप रति अरति है- इसका सामान्य अर्थ किया गया है, अनैतिक कार्यों में रुचि लेना तथा नैतिक कार्यों में अरुचि लेना। इससे भी मानव मन एवं वातावरण में अशुभता को प्रोत्साहन मिलता है। इसका भिन्नार्थ भी संभव है- अधिक उल्लसित और अधिक उदास होना। मानसिक अस्थिरता का परिचायक है यह पाप। जैसे Depression के मरीज की मनः स्थिति होती है या तो वह हंसता रहेगा या फिर रोता रहेगा। मनोरोग एक ही है पर उसकी अभिव्यक्ति समय-2 पर बदलती रहती है,

उसी मानसिक रोग को रति-अरति ये संयुक्त नाम दिया है। इसी तरह दो शब्दों के संयोग से नयी संज्ञा बनाई- माया मृषावाद अर्थात् मन में कपट और वचन में झूठ, इस दोहरे दोष को माया मृषावाद नाम दिया जिसका नम्बर है सत्रहवां। अठारहवां पाप मिथ्यादर्शन शल्य है, जिसे अध्यात्मवादी मौलिक पाप मानते हैं, इस पाप में भाषा ही मिथ्या नहीं होती अपितु विचार धारा, सोच भी मिथ्या-झूठी और उल्टी हो जाती है। इस पाप के कारण जीव आत्मा अपने आन्तरिक विकास की भावना नहीं बना पाता, वह संसार को सर्वथा सत्य तथा आत्मा को असत् Non existent मान बैठता है। इस पाप के रहते धार्मिकता का उद्भव ही संभव नहीं, इसलिए यह मूल पाप है।

धर्मरुचि संपन्न व्यक्तियों के लिए हेय उपादेय का दूसरा Pair आस्रव और संवर का है। पुण्य-पाप जैसे शब्द भारतीय चिंतन में सहजता से बोले और समझे जाते हैं, जबकि आस्रव और संवर बहुलता से जैन शास्त्रों की देन हैं। पाप को ही प्रकारान्तर से आस्रव तथा पुण्य को संवर कह दिया है। अन्तर है तो दबाव पर है— Emphasis पर है। यदि किसी की रुचि या परिस्थिति प्रवृत्ति प्रधान है वह पुण्य-पाप को अधिक अपनाएगा यदि निवृत्ति प्रधान है तो आस्रव संवर को।

पाप के अठारह रूप हैं तो आस्रव के बीस। पाप की चर्चा करते हुए जिस मिथ्यादर्शन से समाप्ति की उसी मिथ्या दर्शन से आस्रव की शुरुआत की है। उधर इति, इधर आदि-इत्यादि।

बीस आस्रवों को 5 टुकड़ों को बांट कर चलने से ये विषय जल्दी स्पष्ट हो जाता है। पहला विभाग है- मिथ्यात्व अव्रत आदि पांच आस्रव। दूसरा विभाग है— हिंसा, झूठ आदि पांच आस्रव। तीसरा विभाग पांच इन्द्रियों की अधीनता का। चौथा विभाग- मन, वचन, काया की चंचलता का तथा पांचवा विभाग-बड़ी छोटी वस्तुओं की अयतना का है। मुख्य विभाग पहला है, शेष चार विभागों में इसी का विस्तार

और व्याख्या है। प्रथम विभाग में जीवन की उन दुर्बलताओं का उल्लेख है, जिन दुर्बलताओं के कारण पाप, बुराइयाँ, अशुभ कर्म, कुसंस्कार जिन्दगी में आते रहते हैं और आत्मा का स्वरूप विकृत हो जाता है, आत्मा का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। यदि शरीर में रोग प्रतिरोधकता नहीं हो तो बाहर का Infection जल्दी Attack कर देता है, ऐसे ही आत्मा में मिथ्यात्व आदि दुर्बलताएं होती हैं तो विश्व के विभिन्न दोष तुरन्त प्रवेश कर जाते हैं और आत्म स्वास्थ्य खंडित हो जाता है। पहली दुर्बलता मिथ्यात्व है; Not Believing किसी भी प्रकार की अच्छाई पर, जीवन के आंतरिक विकास पर न भरोसा हो, न इच्छा हो; आत्मोत्थान के सहायक संतों, भगवंतो, ग्रंथों से दूर जाने की वृत्ति हो; आत्म-कल्याण में उपयोगी आत्मा, मोक्ष आदि विषयों पर अनास्था हो; दया, करुणा, सच्चाई आदि आत्म गुणों पर अश्रद्धा हो तो ये जिन्दगी हर दोष, दुर्गुण, पाप एवं बुराई के लिए खुला मैदान बन जाती है। इसीलिए मिथ्यात्व को प्रथम आस्रव कहा गया है। यदि कोई आत्मा आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास को जागृत भी कर ले तो दूसरी बड़ी अड़चन अव्रत की खड़ी रहती है। आत्मा की रुचि है कि मैं बुराई को छोडूं, मगर उसे छोड़ने का प्रयास नहीं करती। ये मानसिक साहस-हीनता ही अव्रत है। कुछ व्यक्ति अपनी रुचि के साथ बुराईयों को छोड़ने का साहस कर लेते हैं, प्रतिज्ञाबद्ध हो जाते हैं परन्तु पूरी जागरूकता, प्रतिपल सावधानी नहीं रखते, इस कमजोरी को प्रमाद नामक तीसरा आस्रव कहा जाता है। प्रमाद को छोड़ने को तत्पर प्राणियों के सामने चौथी पर गहरी समस्या कषाय के रूप में आ जाती है। चेतना के गहनतम स्तरों पर छाए हुए कषाय-आवेग, आवेश (Emotions, Sentiments and Passions) समाप्त होते हुए प्रमाद को पुनर्जीवित कर देते हैं। हाँ, कषायों की समाप्ति के बाद भी एक हल्की सी दुर्बलता और शेष रह जाती है। यदि इसे दुर्बलता कहें तो भी गलत नहीं, और दुर्बलता न कहें तो भी गलत नहीं, इस पांचवे आस्रव को 'योग' कहते हैं। मानसिक, वाचिक, कायिक क्षमताओं का होना भी सूक्ष्म स्तरों पर कर्म आगमन का तो कारण

बन जाता है पर कषाय न होने से मन, वचन, काया का अस्तित्त्व या संचालन कर्मों को ठहरने नहीं देता। उस अवस्था में वह आस्रव है भी और नहीं भी है। इसलिए कषाय सहित योग अर्थात् अशुभ योग को आस्रव कहा जाता है, कषाय रहित (शुभयोग) योग को नहीं। इस तरह मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा अशुभ योग ये पांचों आस्रव संपूर्ण रूप से आस्रवों का बखान कर देते हैं। फिर भी इन्हीं को विस्तार से समझने के लिए अगले पन्द्रह आस्रव भी जोड़ दिए गए हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पांच बुराइयाँ पाप के अंतर्गत आती हैं इसलिए पाप और आस्रव कोई भिन्न तत्त्व नहीं हैं। ये पांचों आस्रव या पाप, अव्रत नामक दूसरे आस्रव का विस्तार मात्र हैं।

आस्रव के तीसरे विभाग में पांच इन्द्रियों की अधीनता सम्मिलित की जाती है। श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय तथा स्पर्शन इन्द्रिय, ये पांचों इन्द्रियाँ हैं तो ज्ञान प्राप्ति के उपकरण परन्तु राग-द्वेष अथवा कषायों के कारण ये पांचों जीवन में दोषों को जन्म देने लगती हैं। कान, आंख, नाक, जीभ और त्वचा अपने आप में आस्रव नहीं हैं परन्तु मानसिक कषाय-क्लेशों के कारण कर्म बंध करवा देती हैं अतः ये पांच आस्रव कषाय के अन्तर्गत भी आ जाते हैं। चौथे वर्ग में आस्रव है, मन वचन एवं काया की वशीभूतता। मन वचन काया ये तीन योग आत्मा की गति प्रगति में सहायक हैं परन्तु कषायों के सान्निध्य में ये तीनों आस्रव बन जाते हैं, आत्म पतन में हेतु बन जाते हैं, कर्मों का बंध करवा देते हैं। अतः ये तीनों आस्रव कषाय नामक आस्रव का फैलाव है। पांचवे विभाग में आती है दो प्रकार की अयतनाएं। अपने वस्त्र पात्र जीवनोपयोगी स्थूल उपकरणों को अयतना-असावधानी से लेने रखने से आत्मा में कर्मों का प्रवेश होता है तथा सूई, तिनका जैसी छोटी-2 वस्तुओं को असावधानी अयतना Negligence से लेने रखने से भी कर्म बंध संभावित होता है इसलिए ये दो आस्रव के अंतिम भेद हैं। ये अयतनाएं प्रमाद नामक तीसरे आस्रव के कारण उत्पन्न होती

हैं, अतः ये उसी का हिस्सा है, विस्तार से समझाने वास्ते पृथक् गणना कर दी है।

आस्रव के विपरीत संवर है, ये दोनों मिलकर एक युगल बनाते हैं। संवर का स्वरूप और संख्या आस्रव को समझने के बाद सरलता से समझ आती है। आस्रव मन की दुर्बलता है तो संवर इसकी सबलता है, आस्रव दोषों का द्वार है तो संवर दोषों की प्रतिरोधक दीवार है। आस्रव अध्यात्मिक Infection है तो संवर आध्यात्मिक Immunization है। जिन विचारों और आचरणों से जीवन में बुराई का प्रवेश न हो, वे सब आचार-विचार संवर कहलाते हैं। आस्रव की तरह इनकी संख्या भी बीस मानी गई है। आस्रव से बिल्कुल उल्टे चलो तो संवर बन जाता है। संवर के भी हम पांच विभाग तथा कुल भेद 20 कर लें। 1. सम्यक्त्व नामक संवर श्रद्धा, आस्था, विश्वास को कहते हैं। इसके प्रकट होते ही भयंकरतम दोषों का प्रवेश बन्द हो जाता है। जिन जीवों में आत्म कल्याण की इच्छा जागृत हो जाती है, ऐसे सम्यक्त्वी जीव जघन्यतम पापों से (जैन पारिभाषिक शब्दों में अनन्तानुबंधी स्तर के) बच जाते हैं। 2. व्रत नामक दूसरा संवर आने पर जीवात्मा अपने अधिक दोषों को खत्म करने का, नए पापों को रोकने का साहस पूर्ण प्रयास करता है। 3. अप्रमाद के माध्यम से वह अपने सद्गुणों को सुरक्षित रखता है, तथा दोषों के आक्रमणों को निष्प्रभावी बनाता है। 4. अकषाय संवर से तो वह दोषों को ही नहीं, सूक्ष्मतम कर्मरज को भी शक्तिशून्य बना डालता है, इस अवस्था के आने पर वह वीतराग अवस्था को पा लेता है। 5. अयोग संवर से वह आत्मा मोक्ष पद पा लेती है (शुभ योग से वीतरागत्व तथा सर्वज्ञत्व का आनन्द लेती हुई आत्मा सदेह विचरती रहती है)। इन्हीं पांच संवरों में से व्रत नामक दूसरे संवर का विस्तार करते हुए पांच संवर और जोड़े गए हैं, हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से विरति ये अगले संवर है। पांच इन्द्रियों को अधीन करके चलना ये भी तीसरे नम्बर के पांच संवर हैं। राग द्वेष उत्पन्न होने की

संभावना जहाँ हो ऐसे शब्द-रूप-गंध-रस-स्पर्श बहुल पदार्थों, स्थानों से बचना तथा स्वाभाविक रूप से इन्द्रियों के संपर्क में आने वाले शब्दादि को ग्रहण करके भी राग-द्वेष कषाय का उद्‌भव न होने देना ही इन्द्रियों को वश में करना है। इन्द्रिय-विजय अकषाय संवर के बलबूते पर ही संभव है। संवर के अगले वर्ग में मन-वचन एवं काया का वशीकरण सम्मिलित है। ये वशीकरण भी अकषाय रूप संवर की प्रगाढता से संभव होता है। संवर के अंतिम दो भेदों में दो यतनाएं आती हैं। वस्त्र-पात्र आदि मुख्य उपकरणों के रख-रखाव में यतना (सावधानी, विवेक) रखना तथा सूई तिनके जैसी छोटी-2 चीजों के प्रति भी यतना रखना संवर है। इस प्रकार के संवर से धार्मिक व्यक्ति प्रतिपल जागरुक रहता है कि मेरे तन-मन वचन ही नहीं, उपकरण और साधन भी किसी को आघात न पहुंचाएं। ये यतना अप्रमाद नामक तृतीय संवर का परिणाम है। संवर मुख्यतः निवृत्ति प्रधान होने से साधु-साध्वियों का विशेषाधिकार बन जाता है तथा पुण्य प्रवृत्ति-प्रधानता के कारण श्रावकों का मुख्य विषय। भाव दोनों का आत्मा को अच्छाई से ओत प्रोत करना है। कुछ लोग अच्छे काम करके जीवन और जगत् को सुन्दर बनाते हैं, कुछ लोग बुरे कामों से हट स्वयं को दोषों से दूर रखते हैं तथा संसार को भी बुरे कामों से बचाने का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

अध्यात्म रुचि संपन्न व्यक्ति के लिए उपयोगी तत्त्वों का अंतिम जोड़ा बनाने के दो विकल्प हैं— पहला है—बंध और निर्जरा। दूसरा है— बंध और मोक्ष। वस्तुतः निर्जरा और मोक्ष दोनों एक ही हैं। अन्तर केवल अवस्था का, grade का है। Final stage पर जिस तत्त्व को हम मोक्ष कहते हैं, Initial एवं Middle Stage पर उसे निर्जरा कहा जाता है। आंशिकता निर्जरा है, परिपूर्णता मोक्ष है। Partial उपलब्धि निर्जरा है Total उपलब्धि मोक्ष है। शब्दों के लिहाज से बंध और मोक्ष की निकटता बनती है। संसार के अन्य धर्म दर्शनों में भी मोक्ष शब्द प्रचलित है इसलिए बंध और मोक्ष की चर्चा पहले करना उचित है,

निर्जरा को बाद में उठाया जाएगा। शरीर में रोग लग जाए तो उसका पुर्जा-2 ढीला हो जाता है, ऐसे ही चेतना में दोष दुर्गुण प्रविष्ट हो जाएं, आत्मा कर्मों से लिप्त हो जाए तो उसकी हालत भी खस्ता हो जाती है। रोग पूर्णतः नष्ट होने पर शरीर स्वस्थ हो जाता है और अपने प्रत्येक दायित्व को निर्वाहित करने लगता है, ऐसे ही आत्मा कर्मों से सर्वथा छूट जाए तो वह स्वरूपस्थ (मुक्त) हो जाता है। स्वरूपस्थ आत्मा को शरीर धारण करने की आवश्यकता भी नहीं रहती, सूक्ष्मतम इच्छा नहीं रहती, कारण नहीं रहते अतः जन्म-मरण भी बन्द हो जाता है। निर्जरा बीच की अवस्था है जब कर्मों का बन्ध भी चलता रहता है और कर्मों से छुटकारा भी। मोक्ष वह आखिरी अवस्था है जब बंध रुक जाता है, छुटकारा ही छुटकारा Absolute Liberation.

जैन दर्शन के अनुसार कर्मों के परमाणु (तरंग या क्वांटम शब्द भी दिए जा सकते हैं) विश्व के कण-2 में फैले हुए हैं। वे आत्मा से एकमेक हो जाएं, आत्मगुणों को प्रभावित करने लग जाएं इस अवस्था को 'बंध' कहा जाता है। जिन कारणों से आत्मा और कर्म परस्पर संयुक्त होते हैं उन कारणों को आस्रव या पाप कहा जाता है तथा जिन कारणों से वे कर्म आत्मा को प्रभावित न कर सकें उन कारणों को संवर या पुण्य कहा जाता है। आत्मा का कर्मों से भावित और प्रभावित हो जाना ही बंध है। इसे चार नाम दिए जाते हैं– प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध। ब्रह्माण्ड में स्थित कर्म पुद्गलों की विशाल राशि आत्मा में प्रविष्ट हो जाती है, उस अवस्था को प्रदेश बंध कहते हैं जैसे Environment में व्याप्त Bacteria श्वास, भोजन आदि के माध्यम से मानव के Blood Stream में घुस जाएं। प्रविष्ट हुए कर्म पुद्गलों का अन्दर ही अन्दर 7-8 हिस्सों में बंटवारा हो जाता है, यह बंटवारा भी प्रदेश बंध कहलाता है। 7-8 हिस्सों में बंटे हुए कर्म पुद्गल अपने लिए अलग-2 जिम्मेदारी ले लेते हैं जैसे कुछ पुद्गलों की जिम्मेदारी बन जाती है कि वे आत्मा की

व्यक्त अव्यक्त संवेदनशीलता को हानि पहुंचाएंगें, विकृत-दूषित-खंडित करेंगे। कुछ पुद्गलों की जिम्मेदारी बनती है कि आत्मा में कल्याण रुचि (सम्यक्त्व) तथा आत्म विकास के प्रयास को (चारित्र) बाधित करेंगे। कुछ पुद्गल आत्मा को नए-2 शरीर, नए-2 ठिकानों में भटकने के लिए मजबूर करेंगे आदि-2। कर्मों को मिली इस जिम्मेदारी को 'प्रकृति बंध' बोला जाता है। कर्मों की आत्मा को प्रभावित करने की शक्ति कब तक बनी रहेगी, ये निर्धारण भी उसी वक्त हो जाता है। उस समय चेतना पर कषाय शक्ति जितनी कम या अधिक हावी होती है, उतने ही अनुपात में कर्म पुद्गलों को आत्मा को परेशान करने की कालावधि (Tenure) मिल जाती है। कालावधि निर्धारण को स्थिति बंध कहा जाता है। कषायों के कारण कर्म पुद्गलों में मारक क्षमता निर्मित होती है। उस मारक क्षमता के निर्माण को अनुभाग बंध नाम दिया गया है। मानव शरीर एवं Bacteria के संपर्क की उपमा (Analogy) को बंध के चारों रूपों पर लागू किया जा सकता है। Body में Enter हुए Bacteria का फंक्शन अलग-2 होता है, वे Bacteria एक निश्चित काल तक शरीर में पड़े रहते हैं फिर निष्क्रिय हो जाते हैं तथा उन Bacteria में Body के Functions को Impair करने की अलग-2 क्षमता Capacity होती है। इस तरह कर्म बंध के चार पहलू-प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध एवं प्रदेश बंध समझने चाहिएं।

बंध का विरोधी तथा आत्मा के सर्वाधिक अनुकूल तत्त्व है मोक्ष, यह प्रत्येक आत्मा की अंतिम मंजिल है। 'न पुराने कर्म बचें, न नए कर्म आएं, न कर्म आने की संभावना रहे', चेतना की उस परम उत्कृष्ट अवस्था को मोक्ष कहा जाता है। आत्मा अपने मौलिक स्वरूप में आ जाए, अपने समग्र अनन्त गुणों को संपूर्णता से उद्घाटित कर ले, यही तो मोक्ष है। यही परमात्मत्व है, ईश्वरत्व है Godhood है। आत्मा के अनन्त गुणों को संक्षेप में कहें तो अनन्त ज्ञान-दर्शन, सुख, शक्ति एवं वीतरागता है। इन्हें सत् चिद् आनन्द भी कहा जा सकता है।

इनका परम प्रकर्ष, Climax पा लेना मोक्ष है। इस मोक्ष स्थिति को पाने के चार उपाय हैं– 1. सम्यग् ज्ञान 2. सम्यग् दर्शन 3. सम्यक् चारित्र व 4. सम्यक् तप। ये चार उपाय ही मोक्ष के चार भेद माने जाते हैं। संसार-परिवार, शरीर, इन्द्रियों, इच्छाओं-वासनाओं संस्कारों से भिन्न आत्म तत्त्व है, इसकी कुछ योग्यताएं, अयोग्यताएं हैं ये तथ्य समझ लेना सम्यग् ज्ञान है। उन योग्यताओं को समझ, विकसित करने, अयोग्यताओं को अशक्त करने की रुचि, भावना, लगन का होना सम्यग् दर्शन है। उस रुचि, भावना को पूर्ण करने के लिए सहज प्रयास करना, आत्मोर्जा को कल्याण में लगाना सम्यक् चारित्र है तथा अधिक जोरदार प्रयास करना सम्यक् तप है। मोक्ष के इस चतुर्थ उपाय तप की विस्तृत व्याख्या में जो-2 चिन्तन बिन्दु उभर कर आए, उन्हें निर्जरा के हवाले कर दिया है। निर्जरा रोग और स्वास्थ्य के बीच की अवस्था है, जिसें Convalescence अर्थात् A process of getting well कहें तो उपयुक्त रहेगा। जैसे शिशिर ऋतु में वृक्ष के पत्ते झड़ जाते हैं फिर ऋतु परिवर्तन के साथ पुनः उग जाते हैं, क्योंकि वृक्ष की जड़ें कायम थी, पत्ते ही झड़े थे, ऐसे ही पुराने पत्तों के झड़ने की तरह पुराने कर्मों का झड़ना निर्जरा है, पर इसके साथ-2 नए कर्मों का अंकुरण भी जारी रहता है। जब जड़ उखड़ जाएगी फिर नए कर्म नहीं बंधेगें, पुराने झड़ जाएंगे यह मोक्ष है।

निर्जरा के लिए पहली शर्त है कि संवर अवश्य हो, नए कर्मों का आगमन अवरुद्ध हो जाए। निर्जरा के उपायों में 12 प्रकार के तप परिगणित हैं परन्तु तप से पूर्व सम्यग् ज्ञान दर्शन एवं चारित्र भी आवश्यक हैं। यदि इन तीनों की पूर्व भूमिका के बिना ही तप की प्रक्रिया अपना ली जाती है तो उसे जैन दर्शन में बाल तप, अज्ञान कष्ट कहकर निरुत्साहित किया जाता है, यद्यपि उस तपस्या से भी कर्म तो निर्जीर्ण होते हैं पर बहुत थोड़े। जितना श्रम बाल तप में होता है उसकी फल श्रुति शतांश मात्र होती है, Input ज्यादा Output कम,

उस निर्जरा को अकाम निर्जरा कहकर जैन आगमकारों ने अपना मंतव्य स्पष्ट कर दिया है।

निर्जरा दो विधियों से संभव हैः— शारीरिक साधना से एवं मानसिक साधना से। शारीरिक साधना को बाह्य तप तथा मानसिक साधना को आभ्यन्तर तप कहा जाता है। शरीर पर लगी चोट को Heal करने के लिए मरहम पट्टी लगाने को External Treatment तथा Anti biotic Medicine देने, Injection लगाने को Internal Treatment कहा जाता है, ऐसे ही बाह्य और आभ्यन्तर तपस्या के स्वरूप एवं उपयोगिता को समझा जा सकता है।

बाह्य तपस्याओं में भी कुछ आन्तरिकता होती है तथा आभ्यन्तर तपस्या में भी कुछ बाह्यता होती है फिर भी प्रधानता के आधार पर ये विभाजन कर दिया है।

दोनों तपों के छह-2 रूप हैं जिनमें बाह्य तपस्याओं में पहले चार तप भोजन से सम्बन्धित हैं, बाद के दो तप शारीरिक कष्टों की सहिष्णुता से जुड़े हुए हैं। बाह्य तपों के नामः— 1. अनशन 2. ऊनोदरी 3. भिक्षाचरी 4. रस-परित्याग 5. कायक्लेश 6. प्रतिसंलीनता। भोजन का पूर्ण त्याग अनशन है, अल्प भोजन करना ऊनोदरी है। भोजन के लिए परिश्रम करना, कुछ विशेष शर्तों के साथ आहार ग्रहण करना भिक्षाचर्या है तथा भोजन करते समय स्वादिष्ट पदार्थों को छोड़कर केवल क्षुधापूर्त्ति का ध्यान रखना रस परित्याग है। सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास, कठिन मुद्रा आसन में बैठना, केश लोच जैसे कष्ट को सहर्ष स्वीकार करना काय क्लेश तप है। शरीर को एकान्त स्थान में स्थिर करते हुए कोलाहल एवं चर्चाओं से, जन संपर्क से पृथक् रहना प्रति संलीनता नामक छठा बाह्य तप है।

बाह्य तपों को निर्जरा का हेतु अवश्य माना है परन्तु इनकी अपेक्षा आभ्यन्तर तप अधिक प्रभावशाली होते हैं। ये दृष्टिकोण समझना जरूरी है।

आभ्यन्तर तपों के नाम 1. प्रायश्चित्त 2. विनय 3. वैयावृत्य 4. स्वाध्याय 5. ध्यान 6. व्युत्सर्ग।

पहले प्रायाश्चित तप करते हुए साधक अपने मानसिक दोषों का अवलोकन करता है, स्वीकृति करता है तथा उनके संशोधन के लिए निर्दिष्ट उपचारों का आचरण करता है।

दूसरे विनय तप के अन्तर्गत साधक अपने अहंभाव को कम करते हुए अपने समग्र जीवन को गुरुजनों को अर्पित कर देता है तथा गुरुजन उस साधक को ज्ञान-दर्शन तथा चारित्र में ढाल देते हैं।

इस तप का आराधक जब आगे प्रस्थान करता है तो वह अपने जीवन को सेवा में व्यापृत, व्यस्त-Busy कर देता है।[1]

वैयावृत्य-सेवा करने वाला अपने अंहभाव के विसर्जन के साथ-2 अपनी सुविधा, भोजन, विश्राम की उपेक्षा करके औरों की साता के लिए सचेष्ट रहता है और महती निर्जरा करता है।

चतुर्थ आभ्यन्तर तप स्वाध्याय है। आत्म जागृति, आत्म शुद्धि कारक वीतराग वचनों को सुनना, समझना, चिन्तन करना पुनः-2 दोहराना, सुनाना स्वाध्याय है। इससे मन की एकाग्रता सधती है तथा दीर्घ काल तक भव्य भाव चेतना को घेरे रहते हैं और कर्म टूटते रहते हैं। यही स्वाध्याय जब अधिक गहन स्तरों पर पहुंच जाती है तब पांचवां तप ध्यान बन जाता है। स्वाध्याय में शब्द और अर्थों का जुड़ाव कायम

---

1 (व्यापृत व्यक्ति की भावधारा या कर्मशीलता को वैयापृत्य कहा जाता है— प्राकृत भाषा की निकटता के कारण वैयापृत्य ही वैयावृत्य बन गया— अर्थ है सेवा में लगे रहना)।

रहता है। ध्यान में कभी शब्द गुम हो जाते हैं और अर्थ शेष रह जाता है। कभी अर्थ गुम जाता है और शब्द शेष रह जाते हैं। कभी दोनों गुम हो जाते हैं, मात्र ध्वनि या भाव बच जाता है।

स्वाध्याय में ज्ञान बुद्धि में बाहर-2 रहता है, ध्यान में वह अन्दर की अनुभूति बन जाता है, पहले वह उधारा है, बाद में निजी बन जाता है। ध्यान मन की एकाग्रता है। मन की एकाग्रता अशुभ हो तो आर्त्त ध्यान कहलाएगी, वही आर्त्त ध्यान प्रगाढ़तर बन जाए तो रौद्र ध्यान बन जाता है। ये दो ध्यान निर्जरा नहीं है पर ध्यान के विवेचन में इनको इसलिए सम्मिलित कर लिया क्योंकि चित्त की एकाग्रता अशुभ भावों में भी घटित होनी संभव है।

शुभ भावों में चित्त को एकाग्र करना धर्म ध्यान है, इसे गहनतर प्रगाढ़तर एवं निर्मलतर बना लेना शुक्ल ध्यान है। ध्यान कर्म निर्जरा का विशिष्ट साधन है।

ध्यान करते-2 साधक उस अवस्था तक पहुंच जाता है कि उसे स्वयं कुछ करने की आवश्यकता नहीं रहती अपितु दुर्गुण, कर्म, संसार अपने आप ही छूटने लगते हैं, शरीर चेष्टाएं स्वतः अपनी सक्रियता को विलीन कर देती हैं उस स्वयं-सिद्ध निर्जरा का नाम व्युत्सर्ग तप है, यह छठा एवं अंतिम आभ्यन्तर तप है।

वर्तमान काल में निर्जरा ही संभव है, मोक्ष नहीं। साधक का यही साध्य है। मोक्ष आदर्श है तो निर्जरा यथार्थ, मोक्ष Ideal है तो निर्जरा Real.

5. आत्मा परमात्मा बन सकता है

जिस प्रकार मानव-जीवन के दोष दुर्गणों को दूर करने के लिए धर्म की आवश्यकता महसूस हुई इसी प्रकार मानव को अपनी मानसिक समस्याओं से जूझते हुए किसी अदृश्य मददगार की आवश्यकता भी महसूस हुई, और उसने अपने बौद्धिक बल से उस मददगार का निर्माण कर दिया, बाद में उसका नाम ईश्वर, परमात्मा God या खुदा रख दिया। ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम धर्मग्रंथ में, यहूदियों के Old testament में, ईसाइयों के New testament में, मुस्लिमों के कुरान में जितनी प्रार्थना कामनाएं और याचनाएं है, वे अधिकतर भय या लालच की भावना से ग्रस्त मानव मन की अदृश्य दैव शक्ति को लक्ष्य बनाकर की गई पुकारें हैं। कहीं-2 सृष्टि के भव्य दृश्यों से भावमुग्ध मन की कविताएं भी प्रस्फुटित हुई हैं, परन्तु प्रार्थनाओं का बहुलभाग पशुओं के लिए चरागाहों की उपलब्धि, कड़कती बिजलियों से जीवन की सुरक्षा, शत्रु पर विजय, अच्छी फसल या अच्छे शिकार की मांग से भरा हुआ है। यदि प्रार्थनाकर्ता की भावना पूरी हो जाती तो उसकी परमात्मा, ईश्वर या देव शक्तियों पर आस्था दृढ़तर हो जाती। संसार के प्रमुख धर्मों ने अपने बचाव के लिए ईश्वर का निर्माण किया और ईश्वरवाद आस्था का, धार्मिकता का दृढ़ आधार (Bed Rock) बन गया। एक बार मन द्वारा ईश्वर के अस्तित्त्व को स्वीकार कर लेने के बाद बौद्धिक दृष्टि से उसे सिद्ध करना आवश्यक हो गया। दर्शन शास्त्र का जन्म इसी बौद्धिक प्रयास के साथ हुआ। यह दर्शन-शास्त्रीय ईश्वरवाद प्रार्थनापूर्ण ईश्वरीय धारणा से बिल्कुल अलग, एक नई उपज थी। पहले वाले ईश्वर से इतनी ही उम्मीद थी कि वह संत्रस्त प्राणियों का सहारा बना रहे लेकिन दूसरे से अपेक्षा ये थी कि वह सृष्टि की रचना करे। ऋग्वेद इस सृष्टि रचनाकर्त्ता ईश्वर के सम्बन्ध में मौन है। इस ईश्वर का स्वरूप एवं

कार्य वेदोत्तर-कालीन उपनिषदों तथा न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन ग्रंथों में प्रतिपादित हुआ। बाइबिल ने जिस ढंग से ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना का क्रम दिया वह इतना रोचक बना है कि इस कहानी को इस्लाम ने भी अपनाया और आगे चलाया। ईश्वर ने सात दिन में आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा बनाकर एक दिन का अवकाश (Sabbath) लिया, उसने Adam की रचना की फिर उसकी निद्रित अवस्था में उसकी पसली से Eve को बनाया, Satan के प्रभाव से Adam और Eve ने Tree of Knowledge का निषिद्ध फल खाया, ईश्वर के शाप से वे दोनों स्वर्ग से पृथ्वी पर आए और उसके बाद उनकी प्रजाएं उनके द्वारा किए गए पाप की सजा भुगत रही हैं। ऐसी मजेदार किस्सागोई का परिणाम ये निकला कि विश्व की 80-90 प्रतिशत धार्मिक आबादी आज भी ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता (creator God) के रूप में स्वीकार करती है। भारत में जैन और बौद्धों द्वारा दार्शनिक विधि से, तो यूरोप में डार्विन द्वारा वैज्ञानिक पद्धति से सृष्टि रचना का खंडन किए जाने के बावजूद मानसिक धारणाओं में धर्म प्रधान लोग ईश्वर को अपना, सृष्टि का तथा सकल दृश्यादृश्य, लौकिक अलौकिक, कालिक, कालातीत व्यवस्था का रचयिता मानते ही हैं।

अपनी कल्पनाओं से बनाए ईश्वर को हमने इतना Powerful बना दिया कि हमने उससे कहलवा दिया कि मैं तुम्हारा कर्ता हूं। अब ये तो कल्पना ही संभव नहीं कि इस्लाम-परस्तों और ईसाई अनुयायियों को निरीश्वर-वाद के प्रति मोड़ा जाए क्योंकि उनकी Fundamentalist Psyche में ईश्वर विरोधी कोई तर्क या प्रमाण प्रविष्ट ही नहीं हो सकता। हाँ, भारतीय चिन्तन श्रद्धा प्रधानता के साथ-2 तर्क प्रधान भी रहा है, इसलिए यहाँ ईश्वर के साथ निरीश्वरवाद की चर्चा भी संभव है।

वैदिक और श्रमण इन दो चिन्तन धाराओं में दूसरी धारा ने तो ईश्वर की जगह आत्मा को ही अधिमान दिया अतः इस ओर के दार्शनिक जगत् ने ईश्वर के अस्तित्त्व से स्वयं को मुक्त रखा। वैदिक

चिन्तकों में भी कई चिन्तक ईश्वर की सत्ता के कायल नहीं थे, इसलिए भारत में पूरा Scope था ईश्वर को मानने का भी, न मानने का भी।

मानने वालों का मूलभूत तर्क ये रहा है कि एक छोटी सी कलम भी क्यों नहीं हो, उसको बनाने वाला कर्त्ता creator अवश्य होता है, सारी सृष्टि को भी किसी ने तो बनाया ही होगा। विश्व को बनाने वाला वह शक्ति पुरुष ही ईश्वर है। उस ईश्वर को मानने के बाद उसकी अन्यान्य खासियतें जोड़नी पड़ी कि वह सर्वज्ञाता होना चाहिए, उसी सर्वज्ञता के बलबूते पर वह सृष्टि निर्माण के लिए जरूरी तत्त्वों को जान पाता है, उनका संयोजन कर पाता है। उस ईश्वर की दूसरी विशेषता ये बतानी पड़ी कि वह सर्वव्यापी भी होना जरूरी है। अन्यथा असीम विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक होने वाली रचनाओं पर उसका control नहीं रह पाएगा। तीसरी विशेषता वह अकेला ही सर्व अधिष्ठाता रहे, अनेक ईश्वर सृष्टि निर्माण करने लगेगें तो सृष्टि का ढांचा उलट-पुलट हो जाएगा। अगली बात, वह सर्वशक्तिमान भी हो, ताकि वह शून्य से भी तत्त्वों की रचना कर सके। He should be able to create anything out of nothing. यों चलते-2 ईश्वर की गुणवत्ताएं इंसान को बढ़ानी पड़ी, उसे परम दयालु घोषित किया गया वह न्यायकर्ता भी माना गया, वह समय-2 पर अवतार धारण करके संसार व्यवस्था का संतुलन कर्ता भी घोषित हुआ। वह अदृश्य है, ये धारणा भी निर्धारित की गई। उसकी महिमा अज्ञेय है, वह सर्वदोष मुक्त है, जन्म मरणादि प्रक्रिया से ऊपर है, भौतिक नियम उस पर लागू नहीं होते आदि-2।

मानव मन के समक्ष एक दार्शनिक समस्या ये थी कि अच्छे कार्यों का पारितोषिक तो प्राणी सहर्ष स्वीकार कर लेता है, मगर बुरे कार्यों की सजा लेने को वह बिल्कुल तैयार नहीं है। ऐसी स्थिति में किसी भी प्राणी को बुरे कामों की सजा सुनाने वाला तथा भुगतवाने वाला कोई निष्पक्ष तत्त्व निर्मित करना आवश्यक है जो जज और थानेदार का काम

कर सके, वह तत्त्व ईश्वर ही हो सकता है। अच्छे बुरे की पहचान, तथा विशुद्ध न्याय करके वह सामाजिक संतुलन स्थापित करता है।

घनघोर विपत्ति के क्षणों में मदद करने वाले, मानवीय कल्पना से परे चमत्कार करने वाले ईश्वर की इंसान को जरूरत थी, जिसको वह स्तुतियों से रिझा सके। जो दुष्ट प्रवृत्ति के मानवों पर कहर भी बरसा सके। कभी-2 वह मानव शरीर धारण कर (अवतार लेकर) पृथ्वी पर अपने भक्तों का बचाव कर सके। इस तरह विश्व क्षितिज पर ईश्वर की उत्पत्ति करना मानव मन की मौलिक आवश्यकता भी थी तो मौलिक खोज भी।

परन्तु जैसे-2 ईश्वर के अस्तित्त्व के सम्बन्ध में मानव ने बुद्धि तर्क एवं विज्ञान का प्रयोग करना शुरु किया वैसे-2 ईश्वर की धारणा लुप्त होने लगी (Started melting in the thin air).

बुद्धि प्रधान चिन्तकों का निष्कर्ष था कि समग्र सृष्टि केवल प्राकृतिक शक्तियों (Natural forces) की क्रिया प्रतिक्रियाओं का परिणाम है, इसके निर्माण में किसी परमात्मा और ईश्वर का हाथ नहीं है। भौतिक तत्त्वों से संसार की प्रत्येक वस्तु बनी है। सूर्य-चन्द्रमा, पर्वत, पृथ्वी, पेड़ हवाएं, गैसें, अग्नि की चिनगारियां अलग-2 किस्म के परमाणुओं के मिलन का परिणाम है। इन परमाणुओं की भी एक सूक्ष्म सृष्टि होती है जिसे अत्यधिक क्षमता संपन्न Microscopes से जांचने पर पता चलता है वहाँ भी एक Nucleus होता है, जिसकी परिक्रमा Electrons, Protons, Neutrons आदि करते हैं। इन लोगों की खोज और गहरी होती गई और उन्होंने Higgs Boson नामक सूक्ष्मतम कण को भी ढूंढ निकाला है, आज तक की नवीनतम खोज Higgs Boson है। हो सकता है, भविष्य में इससे भी सूक्ष्म कण दिख जाएं।

इस खोज में विज्ञान को कहीं भी ईश्वर का हाथ नज़र नहीं आया, विज्ञान ने स्वयं संचालित संसार देखा है, ईश्वर संचालित या

ईश्वर कृत नहीं, मगर ईश्वर या भगवान की मान्यता इतनी दृढ़मूल हो चुकी है कि Higgs Boson को समझाने के क्रम में इस कण को भी God's particle नाम दे दिया जो कि वैज्ञानिकों के अनुसार बिल्कुल Misnomer (अशुद्ध संज्ञा) है। वैज्ञानिकों ने सारे Solar system का अध्ययन किया, असीमित Galaxies का, Milky Ways का प्रारूप तैयार किया, अरबों Light years दूरवर्ती Stars की संभावनाएं समझी और समझाई, पर उन्हें ईश्वर या परमात्मा की खोज खबर नहीं मिली, जिसने कि इस विचित्र संसार का नियंत्रण संभाल रखा हो। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि पारस्परिक गुरुत्वाकर्षण के कारण चलते और ठहरते हैं। उन्हीं के कारण दिन और रात का, गर्मी-सर्दी का, ऋतु परिवर्तन का सिलसिला चलता है। कुछ घटनाएं बिल्कुल नियमित, निश्चित और नियत Fixed ढंग से होती रहती हैं तथा कुछ घटनाएं अकस्मात् भी होती हैं। तूफानों, वात्याचक्रों का प्रकोप Cyclones, Tsunamis, Earthquakes, आदि अचानक होते हैं तो चन्द्र सूर्य ग्रहण आदि व्यवस्थित नियमों के अनुसार होते हैं, इनके होने न होने में परमात्मा भगवान् का कोई रोल नहीं है। यदि ईश्वर ने सारा संसार बनाया है तो आज वह जीवनोपयोगी चीजें क्यों नहीं बनाता है? इंसान को मकान बनाने होते हैं। सड़कें, गाडियां, बांध, नहरें बनानी होती हैं, फैक्ट्रियां खड़ी करनी होती हैं, ये सब ईश्वर को बना देनी चाहिएं। पेट भरने के लिए खेती करनी होती है, तन ढकने के लिए कपड़ा बुनना होता है, उड़ने के लिए वायुयान बनाने होते हैं। हजारों लाखों वर्षों से मनुष्य नित्य नवीन सृजन कर रहा है। पशु-पक्षियों, कीड़ों, मच्छलियों, सरीसृपों को अपने जीवन निर्वाह के लिए निरंतर संघर्ष रत रहना पड़ता है, क्या ही अच्छा होता कि ईश्वर-वादी अपने ईश्वर से ये सब कार्य करवा देते और उसकी निरीह प्रजा को संघर्ष मुक्त करवा देते। वैज्ञानिकों का सवाल है कि भूकंप, महामारियों, महायुद्धों में हजारों, लाखों मनुष्य मारे गए हैं, मारे जा रहे हैं क्यों नहीं वह ईश्वर-भगवान् परमात्मा इन प्राकृतिक या मानव-कृत हिंसाओं को रोक देता, वह तो सर्वशक्तिमान् माना गया है, क्या उसे इन भीषण

उत्पातों को रोकने में सत्त्वहीन माना जाए या उसको सर्वथा अस्तित्त्व हीन ही मान लें?

कितने ही बच्चे मां की कुक्षि से ही अपाहिज, अपंग एवं रुग्ण पैदा हो रहे हैं वे ताजिन्दगी पीड़ाओं को झेलते ही हैं। बच्चों के माता-पिता भी गहरे संताप और चिन्ता के शिकार हो जाते हैं, क्या भगवान् का फर्ज नहीं बनता कि अपनी औलाद पर इतना जुल्म न ढाए। एक प्रसिद्ध लेखक अरुण शौरी ने पुस्तक लिखी है 'Does he has a mother's Heart?' उस में सवाल उठाया है कि जिस भगवान को आज तक लोग दयालु और कृपालु कहते आए हैं, उसके पास तो शायद एक सामान्य मां का दिल भी न हो।

बात केवल मानवों की जिन्दगी की नहीं है, पशु-पक्षियों के विषय में भी यही समस्या सामने आएगी। जंगलों में शक्तिशाली, क्रूर पशु शक्तिहीन छोटे पशुओं को मार कर खा जाते हैं। मानव पशुओं को अपने उपयोग के लिए Tame कर लेता है, खाने के लिए कत्लखानों में उनका संहार कर देता है, क्या उस भगवान् की मर्जी थी कि इंसान पशुओं पर ऐसी क्रूरता बरते। पशुओं को बोलने का अधिकार नहीं दिया, भरपूर भोजन नहीं दिया, क्यों? समुद्रों में भयंकर हालात हैं, बड़ी मच्छली द्वारा छोटी मच्छली को निगलना केवल मुहावरा नहीं है, एक यथार्थ है। इस यथार्थ का जिम्मेदार कौन? इनसे भी छोटी जीव-सृष्टि-मक्खी, मच्छरों, पतंगों, चींटी, कुंथुओं की असुरक्षित जिन्दगी को देखें तो हैरानी होती है, तेज ठण्ड, तेज लू के थपेड़ों से एकदम लाखों क्रोड़ों प्राणी मर जाते हैं। इस निरपराध Genocide के लिए भगवान् की ओर ही निहारना पड़ेगा, यह सब कुछ उसकी कृपा से हो रहा है, क्योंकि भगवान् के भक्तों का दावा है कि उसके हुक्म या मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। एक वृक्ष पर फल आएं उससे पूर्व कितनी बौर और कलियों की कुर्बानी होती है। बर्बादगी का यह मंजर बताता है कि मानव द्वारा माने गए परमात्मा के पास कोई बुद्धिमत्ता पूर्ण योजना नहीं है।

ईश्वर की मान्यता स्थापित होने के बाद उसके सम्बन्ध में और भी कल्पनाएं इंसानों के दिलों में उभर आई, उन कल्पनाओं ने कहा कि वह हमारी स्तुति और प्रार्थनाओं से प्रसन्न होता है तथा हमारे द्वारा किए गए विरोधों से क्षुब्ध होता है। प्रसन्न होकर वरदान और खिन्न होकर अभिशाप देता है, परन्तु ईश्वर विरोधी मानसिकता वालों को इस कथन में कोई सच्चाई नजर नहीं आई। वे कहते हैं कि उसकी स्तुति करने वाले इंसान भी दुःखी, रोगी और विपदाभिभूत हैं तथा विरोध करने वाले भी फलते-फूलते नज़र आते हैं। वे प्रमाण देते हैं कि हम उस ईश्वर को मानते नहीं, उसकी खिलाफत करते हैं, उसके अस्तित्त्व को चुनौती दे रहे हैं फिर भी उसने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा। हमारा होना ही साबित कर रहा है कि उसका हमारी, तुम्हारी और संसार की स्थिति से कुछ लेना देना नहीं है।

भगवान को सर्वोच्च सत्ता मान लेने के बाद भावनाशील, श्रद्धालु व्यक्तियों के मन में लालसा उठने लगी कि उस परमेश्वर का दर्शन किया जाए। चूंकि वह भगवान् आंखों के जरिए तो देखा नहीं जा सकता था इसलिए उसके दर्शनों के लिए ध्यान, भक्ति, जाप, तप, पूजा आदि अनेक विधियां बताई गई। कुछ लोगों ने ये दावा भी किया कि हमें भगवान् के दर्शन हो गए। जिन्हें सौ प्रयत्न करने के बावजूद दर्शन नहीं हुए उन्होंने अधिक और अधिक तपस्याएं की। कुछ लोग कांटों पर सोने लगे, तपती रेत पर चलने लगे, पर्वतों, वनों के एकान्त में ध्यानस्थ रहने लगे। एक आदमी ने इसी जोश में अपने होठों को सुई धागे से सी लिया था। मगर बेचारे को वह परमात्मा नहीं दिखा। भ्रांत धारणाएं भ्रांति ही पैदा करेंगी। कहीं-2 ईश्वर की शक्ल बनाकर काम चलाया जाने लगा कि संतुष्टि की जा सके कि ईश्वर के दर्शन हो गए। ईश्वर की शक्ल कैसी बनाई जाए। इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर था इंसान जैसी। सो, इंसान ने अपना चेहरा भगवान् को दे दिया। यद्यपि क्रिश्चिनीयटी ने तो ये कहा कि God has created man after his Image परमात्मा

ने अपनी शक्ल इंसान को दे दी, पर वास्तविकता ये रही कि इंसान ने अपनी 'खोज' परमात्मा को अपनी शक्ल का सांचा देकर ढाल दिया।

यदि कुत्ते-बिल्ली-तोते-मछली आदि को भगवान् की जरूरत पड़ती और उन्हें चित्र बनाने की कला आती तो भगवान् की शक्ल अपने-2 जैसी ही बनाते।

यदि भगवान् है तो उसका फर्ज बनता है कि वह अपने मानने वालों को खुद आकर बता देता कि मेरी शक्ल ऐसी-2 है, विवादों का निपटारा हो जाता। यही बात भगवान की संख्या को लेकर है, किसी ने एक भगवान माना है तो किसी ने अनेक भगवान् माने हैं। Mono-theism; Poly-theism में सही और गलत का फैसला भी उसी को करना चाहिए, जिसको लेकर मानव टकरा रहे हैं। जब वह प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का फैसला करता है तो मान्यताओं की सत्यासत्यता का फैसला भी उसे करना होगा।

ईश्वर का साक्षात् दर्शन जब असंभव हो गया तो मानवों को उसके Indirect दर्शन की विधि खोजनी पड़ी। कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को देखकर भगवान् के दर्शन होने की तृप्ति की जाने लगी। उन विशिष्ट व्यक्तियों का ईश्वर के साथ क्या संबंध है इस विषय पर फिर संघर्ष छिड़ गया। हिन्दुओं ने कहा कि ये विशिष्ट व्यक्ति ईश्वर के अवतार हैं अर्थात् इनमें आंशिक या पूर्ण रूप में ईश्वर स्वयं उतर कर आया है। ईसाई कहने लगे ये विशिष्ट व्यक्ति ईश्वर की औलाद हैं (Son of God) मुस्लिम कहने लगे ये विशिष्ट व्यक्ति ईश्वर का संदेश वाहक है– पैगम्बर (Messenger) है और इससे बढ़कर ये आग्रह कर बैठे कि मोहम्मद सा. ही ईश्वर का एक मात्र दूत, संदेश वाहक है। केवल इसी जिद में उन लोगों ने लाखों क्रोड़ों लोगों को तलवार से मौत के घाट उतार दिया। क्या ही अच्छा होता कि वह ईश्वर अपने असली अस्तित्त्व-स्वरूप को प्रकट करते हुए उन अवतारों, संतानों, पैगम्बरों की

वास्तकिता समझा देता और उसके ही नाम पर होने वाले खूनी मंजरों से निजात दिला देता।

जब कुछ विशिष्ट धार्मिक मनुष्यों ने अपने को भगवान् से जोड़कर अपना दबदबा बनाना शुरू कर दिया, तब राज्य सत्ता तथा सिंहासनों की कमान संभालने वाले लोगों ने भी ये कहना शुरु कर दिया कि राजा भी भगवान् है। उसके हुक्म को पालना ही भगवान् की सेवा करना है। कितने ही निरंकुश सत्ताधीशों ने इस 'शब्द' का प्रयोग किया पर 'ऊपर वाला' भगवान् शान्त भाव से देखता रहा। घर की चार दीवारी में पुरुष ने अपनी पत्नी को दबाने के लिए इस शब्द को अपने साथ जोड़ लिया, पति परमेश्वर बन गया। चरित्रहीन पति सच्चरित्र नारी को धौंस दिखाता रहा, क्योंकि वह परमेश्वर के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था वो भी इसलिए क्योंकि परमेश्वर ने आकर उसे रोका टोका नहीं।

जो कुछ प्रकृति में हुआ, मानवों ने किया, उस सबको भी ईश्वरीय रचना कहने की परम्परा पड़ गई।

मानव जाति का अलग-2 वर्णों में (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) विभाजन किया तो मानवों ने ही था, अपने स्वार्थों के लिए किया या अपनी सुविधाओं के लिए, मगर इस मानवीय विभाजन को Sanctity या Validity प्रदान करने के लिए अवतारों ने उसी भगवान् के नाम से कह दिया— **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'** चारों वर्ण मैंने बनाए हैं। भगवान् फिर भी चुप। गरीब, अमीर शोषक, शोषित, शासक-शासित, रोगी-स्वस्थ, बुद्धिमान-निर्बुद्धि आदि द्वन्द्वात्मक व्यवस्था का कर्ता नियंता भगवान् ईश्वर को मानकर भी बीच में कर्म तत्त्व और डाल दिया गया और कह दिया कि ईश्वर हर प्राणी को उस-2 प्राणी के कर्म देखकर ही अलग-2 अवस्थाएं प्रदान करता है अर्थात् उसकी स्वंतत्रता छीन ली गई और उसे कर्म का मुंह ताकना पड़ा। जब ईश्वर की ताकत को घटाया जाने लगा, तब भी उसने कोई रोड़ा नहीं अटकाया। उसने चिन्तकों, वक्ताओं को

पूरी छूट दे दी कि जो तुम्हें सोचना हो सोचो, बोलना हो बोलो, मैं तो लाचार हूं अर्थान्तर से मैं हूं ही नहीं।

बुद्धि प्रधान वर्ग ने भगवान्-ईश्वर परमात्मा पर इतने ताबड़-तोड़ हमले किए कि विश्व का धर्मप्राण मानव आहत और व्याकुल हो गया, उसके पास उन प्रश्नों का उत्तर भी नहीं था, पर उनकी दलीलें स्वीकार करने का मन भी नहीं था। भगवान् के अस्तित्त्व पर ही उसकी आस्था नहीं थी बल्कि भगवान् शब्द से भी उसका मोह भरा लगाव था, भगवान् शब्द को शब्द-कोष से निकालना तो कठिन था ही, लोक हृदय से निकालना असंभव भी था। भगवान् के निरन्तर विरोध से नास्तिकता पनपने लगी। फलस्वरूप सामान्य जनता ने ऐसे लोगों को चार्वाक कहकर उपेक्षित कर दिया। जैन धर्म ने 'भगवान्' का एकान्त विरोध या एकान्त समर्थन न करके समन्वय का रास्ता अपनाया। भगवान् शब्द को अपनी धार्मिकता, दार्शनिकता, आध्यात्मिकता का अंग बना लिया। संसार के सर्वोच्च-सर्वोत्कृष्ट महापुरुषों को भगवान् कहकर उनकी स्तुति, वंदना, पूजा की। उनके उपकारों को याद करके, गिना-2 करके लोक श्रद्धाओं का रुख उनकी ओर मोड़ा। हाँ, इतनी सावधानी भी रखी कि विश्व व्यवस्था में उनका दखल नहीं होने दिया। सृष्टि की संरचना, पालना एवं विध्वंस जैसे अनधिकृत कामों से उसे या उन्हें आजाद रखा। जैनों ने जो भगवान् की अवधारणा दी उसके मुख्य पहलू ये रहे— 1. भगवान् एक नहीं; भगवान् अनेक हैं। 2. वह सर्जक (creator) नहीं आराध्य (Ideal) है। 3. भगवान् बनने की संभावना प्रत्येक प्राणी में है अर्थात् हर आत्मा भगवान् बनने की क्षमता अपने में लिए हुए है। 4. भगवान् बनने के बाद आत्मा का संसार से संपर्क समाप्त हो जाता है और वह अपने ज्ञान, सुख शान्ति में लीन हो जाती है तथा किसी संसारी जीव को सुख-दुःख देने के कारण बन्द हो जाते हैं। 5. भगवान् के दो रूप हैं— साकार और निराकार, शरीर युक्त और शरीर मुक्त।

जैनों की इस चिन्तन धारा का प्ररूपक एक नारा है '**अप्पा सो परमप्पा**'— आत्मा ही परमात्मा है। जब तक यह जीव राग-द्वेष, कर्म, क्लेश, कषाय-आवेश से लेशमात्र भी युक्त रहता है, तब तक वह 'आत्मा कहलाती है। जैसे ही वह जीव इन दोषों से सर्वथा मुक्त हो जाता है, वह परमात्मा अर्थात् परम, सर्वोत्कृष्ट आत्मा बन जाता है। यदि इस शब्द की ओर जरा सा गौर किया जाए तो अपने आप स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा उसे ही कहना चाहिए जो आत्मा परम बन जाए। तथा परम बनने के लिए जरूरी है कि वह अपने साथ जुड़े सभी दोष दुर्गुणों का सर्वथा सफाया करे। परमात्मा के लिए प्रयुक्त एक शब्द ईश्वर है। व्याकरण तथा कोष के अनुसार 'स्वामित्व के गुणों से युक्त प्राणी ईश्वर होता है।' जब कोई आत्मा विषय विकारों की अधीनता को छोड़कर अपने सहज गुणों का स्वामित्व अधिगत कर लेती है तब वह ईश्वर बन जाती है। उस आत्मा को न किसी प्राणी का स्वामी बनना होता, न किसी वस्तु का, उसे तो सिर्फ अपने मूल स्वरूप पर अधिकार करना होता है। विश्व के किसी भी व्यक्ति या वस्तु पर सार्वकालिक अधिकार हो नहीं सकता इसलिए वास्तविक अधिकार या स्वामित्व या ईश्वरत्व तो अपने गुणों के संबंध में ही हो सकता है। जिसने यह ईश्वरत्व पा लिया वही आत्मा 'ईश्वर' बन गई।

ईश्वर के लिए बहुप्रचलित शब्द भगवान् है। जरा इस शब्द का प्रयोग सावधानी पूर्वक करें, वर्ना फिर यह शब्द चकमा दे सकता है। जिसके पास अधिक धन है वह धनवान, जिसके पास अधिक गुण है वह गुणवान् इस तर्ज पर जिसके पास अधिक भग है वह है भगवान्। अब 'भग' शब्द का जायजा ले लें ताकि भ्रांति न बने। संस्कृत का एक प्रसिद्ध श्लोक हैः

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीगंना ॥

भग शब्द के छह अर्थ होते है- 1. समग्र (उत्कृष्ट) ऐश्वर्य 2. उत्कृष्ट रूप 3. उत्कृष्ट यश 4. उत्कृष्ट लक्ष्मी 5. उत्कृष्ट धर्म 6. उत्कृष्ट प्रयत्न। इन छह योग्यताओं में से कोई एक योग्यता जब किसी जीव में भरपूर रूप में प्रकट हो जाती है, तब उसे भगवान् कहा जा सकता है।

भारत में प्रयुक्त इन तीन शब्दों के अलावा ईसाई मत या इस्लाम में प्रयुक्त शब्दों पर ध्यान दें God — Goodness incarnate जिसमें अच्छाई पूर्णतः अवतरित हो जाए वही God है।

खुदा = खुद + आ = खुद में (अपने मूल स्वरूप में) आ जाए वह खुदा।

इन शब्दों पर जरा सा भी ध्यान देगें तो स्पष्ट हो जाएगा कि ये शब्द मूलतः विकसित आत्माओं के लिए बने थे बाद में इनका शुद्ध अर्थ बदल कर किसी 'अदृश्य सत्ता' के रूप में पेश कर दिया गया। जैन धर्म ने कहा कि अनन्त आत्माएं अपनी छिपी योग्यताओं को उजागर कर चुकी हैं, और जिन आत्माओं ने अभी तक अपनी योग्यताएं नहीं उभारी हैं, वे उभार सकती हैं, इसलिए अनन्त परमात्मा-भगवान्-खुदा God हो चुके हैं तथा अनन्त बनने वाले हैं। धर्म के क्षेत्र में Democracy राज्य व्यवस्था लागू होने पर देश का प्रत्येक नागरिक प्रधान मंत्री, राष्ट्रपति, बन सकता है। धर्म में लोकतंत्र (Spiritual Democracy) लागू होने पर संसार का प्रत्येक प्राणी भगवान् बन सकता है। भगवान् बनना किसी एक दो या दस बीस का अधिकार नहीं है, यह तो प्राणीमात्र का Birth Right है। सर्वदोष क्षीण होने पर सर्वगुणों का प्रादुर्भाव हो जाने पर आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त शक्ति जागृत हो जाती है। ऐसी आत्माओं या ऐसे भगवानों को दो रूप में समझाया जाता है। साकार परमात्मा (Personified God) निराकार परमात्मा (Impersonified God) इनके लिए जैन धर्म में पारिभाषिक शब्द है— अरिहंत और सिद्ध। ये दोनों शब्द जैनों के सर्वाधिक पवित्र शब्द हैं, इनके स्वरूप को समझने के लिए जैनों के आत्मवाद का परिचय

भी चाहिए। आत्मा एक जीवन्त तत्त्व है, जो अनादि काल से राग-द्वेष आदि अशुद्धताओं से लिपटा हुआ है जैसे Mine में पड़ा हुआ Gold ore अनेक Impurities से भरा हुआ होता है पर जब उस Gold ore को अनेक प्रक्रियाओं में गुजारने से उसका मैल निकल जाता है और वह 24 कैरेट का Pure gold बन जाता है, ऐसे ही जो आत्मा स्वयं को सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की प्रक्रिया से गुजार कर पूर्ण शुद्ध कर लेती है वह आत्मा परमात्मा ईश्वर, भगवान् बन जाती है। वह आत्मा कुछ समय तक अपनी आयु के अनुसार शरीर धारण किए रहती है, आयु पूर्ण होने पर आत्मा शरीर को छोड़कर लोक के अग्रभाग पर पहुंच जाती है। जब तक वह शरीर में रहती है, उस आत्मा को अरिहन्त भगवान् कहा जाता है और जब वह शरीर से मुक्त हो लोकाग्र प्रतिष्ठित हो जाती है उस आत्मा को 'सिद्ध भगवान्' कह दिया जाता है। लोकाग्र, लोकान्त, मोक्ष आदि स्थानों को वैज्ञानिक उपकरणों से सिद्ध करना संभव नहीं है। इसलिए जैनाचार्यों ने उस क्षेत्रीय विषय की उपेक्षा ही की है। आ. समन्त भद्र की विश्रुत उक्ति है–

'मोक्षस्य हि न वासोऽस्ति क्वचिद् ग्रामान्तरमेव तु।
अज्ञान मोह ग्रंथि नाशो मोक्ष उच्यते' ॥

मोक्ष को किसी ठिकाने-स्थान से संबद्ध करने और समझने की ज़रूरत नहीं है। ज़िन्दगी में व्याप्त अज्ञान और मोह की ग्रंथि का नष्ट होना ही मोक्ष है। उस मोक्ष का अधिकारी भगवान है।

मोक्ष आत्मा की एक State है, न कि आत्मा का Place. अरिहंतत्त्व और सिद्धत्व भी शुद्ध आत्मा की अवस्थाएं ही हैं। आध्यात्मिक योग्यताओं की दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध में कोई अंतर नहीं होता, दोनों अवस्थाओं में आत्मा का परम वैभव प्रकट हो चुका होता है, अन्तर सिर्फ शरीर में होने और न होने का ही होता है। यथा श्री महावीर स्वामी ने 30 साल की आयु में साधना मार्ग अपनाया। 12½

वर्ष तक संयम तप की कठोर पालना की, 42½ वर्ष की आयु से 72 वर्ष की आयु तक वे अरिहंत भगवान् थे, उसके बाद से आज तक तथा आज से आगामी अनन्त काल तक के सिद्ध पद धारक हैं और रहेंगे। महावीर स्वामी जैसी अनन्त आत्माएं भगवान् बन चुकी हैं और अनन्त आत्माएं भविष्य में बनेंगी। हर प्राणी जो अध्यात्म के पथ का राही है- ये दावा कर सकता है कि मैं भगवान् हूं।

मैं हूँ खुद नूरे खुदा महरे मुनव्वर हूँ मैं,
गो खाक का पुतला ही बज़ाहिर हूँ मैं।
मेरी हस्ती में है दखल खुदा का भी नहीं,
जो कहे खूब कहे कि काफ़िर हूँ मैं ॥

वेदान्त दर्शन की प्रयोगात्मक भाषा में सभी के लिए उच्चारणीय वाक्य है 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ। औरंगजेब के भाई दारा शिकोह का क्या कसूर था। उसने यही तो कहा था 'अनलहक' मैं खुदा हूँ। बेचारे को मृत्युदण्ड झेलना पड़ा था। पर जैन धर्म अरिहन्त सिद्ध भगवान् की कितनी भी स्तुति करे, उन्हें सर्वोच्च स्थान दे मगर स्तुतिकार को ये याद दिलाता रहता है कि तुझे भी एक दिन अरिहंत सिद्ध भगवान् बनना है। तथा अरिहन्त सिद्ध भगवान् बनने के लिए तुझे किसी की कृपा (grace) पर निर्भर नहीं रहना, तुझे स्वयं ही वह दर्जा हासिल करना है। भगवत्ता किसी की बक्शी हुई नैमत नहीं है यह अपने आप अर्जित की हुई दौलत है।

छोड़ आसरा अलख शक्ति का रे नर स्वयं जगत्पति तू है।
तू गर झूठे पत्ते चाटे तो तुझ पर लानत है थू है।

कोई अरिहन्त अपने निकटवर्ती व्यक्ति को अरिहन्त नहीं बना सकता वह अरिहन्त बनने का उपाय बता सकता है पर उस उपाय को किसी पर लाद नहीं सकता। उदाहरणार्थ, महावीर स्वामी के संघ में 14 हजार साधु एवं 36 हजार साध्वियों ने दीक्षा अंगीकार की। लेकिन

उनमें में 700 साधु तथा 1400 साध्वियां ही अरिहन्त सिद्ध बन सके। यदि भगवान् महावीर के हाथ में किसी को भगवान् बनाने की ताकत होती तो कम से कम अपने संघीय साधु-साध्वियों को तो बना ही देते। मगर ये सचाई है कि हर आत्मा को अपनी भगवत्ता स्वयं प्रकट करनी होती है। जिस-2 आत्मा ने प्रकट कर ली वे गिनती में आ गए, जिन्होंने उतना पुरुषार्थ नहीं किया वे अभी उस भगवान की अवस्था से उतने ही दूर रहे।

भगवान् के उपरोक्त दो रूपों में पहला रूप अरिहंत भगवान् का है। उसके भी दो रूप जैन धर्म में बताए गए हैं, पहले तीर्थंकर, दूसरे हैं सामान्य केवल ज्ञानी (सामान्य केवली)। तीर्थंकर को 'विभूषित केवली' कहने की परम्परा भी रही है। जो भगवान् स्वयं को परिपूर्ण बनाकर विश्व मंगल की दृष्टि से धर्म तीर्थ की स्थापना करते हैं वे तीर्थंकर होते हैं, जैसे मौजूदा कालचक्र में ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त 24 तीर्थंकर हुए।

तीर्थंकर के अलावा अन्य केवल ज्ञानी– जो अपनी भगवत्ता को तो प्रकट कर लेते हैं पर सृष्टि के प्राणियों को प्रतिबोध नहीं देते या नियमित निश्चित रूप से नहीं देते तथा तीर्थ स्थापना का दायित्व नहीं लेते वे सामान्य केवली अरिहंत होते हैं।

तीर्थंकर अरिहन्तों के विषय में जैन धर्म बड़ी सूक्ष्म एवं चामत्कारिक जानकारियाँ देता है। इस स्तर को पाने के लिए ये आत्माएं दो जन्म पहले विशेष अध्यात्म-साधनाएं करती हैं और तीर्थंकर पद पाने की आन्तरिक योग्यताएं अर्जित कर लेती हैं। वहाँ से काल करके वे आत्माएं सामान्यतः देवलोकों में– स्वर्गों में– जाकर कुछ काल तक विश्राम करती हैं।[1] उस काल की पूर्ति के पश्चात् वे मनुष्य लोक में किसी राज परिवार में जन्म लेती हैं, मनुष्य भव में आने के प्रथम समय

---

1 (अपवाद के तौर पर कभी-2 आत्मा को नरक में भी जाना पड़ जाता है)

से ही उन्हें 'अवधि ज्ञान' नामक एक विशिष्ट ज्ञान शक्ति उपलब्ध होती है। उनके जन्म के समय देवगण उनका मेरु पर्वत पर अभिषेक करते हैं। तीर्थंकर जब गृह त्याग की तैयारी करते हैं तब देव वृन्द उनके पास धन का ढेर लगा देते हैं और वे एक वर्ष तक सामान्य जनता को दान देते हैं। दीक्षा के समय उन्हें मनः पर्याय ज्ञान उपलब्ध हो जाता है तथा साधना के पश्चात् उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तदनन्तर वे देव, मनुष्य एवं पशुओं की परिषद् में धर्मोपदेश देते हैं। ऐसे तीर्थंकरों के उपकार को स्वीकृत करने के लिए जैनों के मंत्र नवकार में सिद्धों से पूर्व अरिहंतों को नमस्कार किया है, यद्यपि स्वयं अरिहंत तीर्थंकर दीक्षा के समय सिद्धों को नमन करते हैं। सभी तीर्थंकर या सामान्य केवली अरिहंत आयु पूर्णता के बाद सिद्ध बन जाते हैं। सिद्ध भगवान् को विश्व के साथ प्रायः सभी दार्शनिकों ने Absolute Truth के रूप में पेश किया है। उसकी कोई शक्ल नहीं है, शरीर नहीं है, मात्र प्रकाश रूप है— प्रकाश भी उपमा के रूप में ही कहा जाता है- वास्तविकता में वह प्रकाश नहीं है। जहाँ एक सिद्ध जाता है, वहाँ पहले से ही अनन्त सिद्ध आत्माएं उपस्थित होती हैं, वह आत्मा भी उनमें समा जाती है। इस समावेश की घटना को समझाने के लिए प्रकाश की उपमा का सहारा लिया जाता है।

सिद्ध बनने के लिए जैन धर्म ने कोई बाहरी शर्त नहीं रखी है। किसी धर्म परम्परा से जुड़ना, किसी वेष, लिंग में होना, किसी एकान्त स्थान में होना आदि बाह्य निमित्तों से निरपेक्ष रहकर आत्म-दोषों की समाप्ति ही सिद्धत्व की प्राप्ति में सहायक होती है, ये जैनों की स्पष्ट मान्यता है।

यदि कोई जैन वेश भूषा में रहते हुए जैन पद्धति से साधना करता है तो ही वह मुक्ति का अधिकारी है, ऐसी संकीर्णता जैनों ने नहीं दिखाई। अन्य धर्मों की पद्धति, अन्य धर्मों की वेश भूषा वाला साधक भी उसी तरह सिद्धत्व का हकदार है जैसा कि एक जैन साधक। इतना

ही नहीं, घर-गृहस्थता से संबद्ध व्यक्ति भी यदि स्वयं को अन्दर से निर्मल शुद्ध बना लेता है तो उसके लिए सिद्ध भगवान् बनने में कोई बाधा नहीं है। शरीर चाहे पुरुष का हो या नारी का, भले ही नपुंसक ही क्यों न हो, आवश्यकता है अपने पाप-विचारों का समूल नाश करे और सिद्धत्व आपकी गोद में उतर सकता है। आप अकेले वनों की एकान्तता में हों या नगरों की भीड़ में, संघ में हों या आत्मनिर्भर हों, प्रश्न है आपकी आध्यात्मिक उच्चता का, उसे अधिगत किया कि आप सिद्ध कहलाए। Caste-Colour-creed आदि छोटी-2 विभाजक रेखाओं से परे है जैनों का सिद्धत्व प्राप्ति का विधि विधान।

सिद्ध बनने के बाद उनका सृष्टि से संपर्क छूट जाता है, वे लोकान्त में विराजमान हो जाते हैं, उन्हें विश्व प्रक्रिया में पुनः सम्मिलित करने वाला कोई भी कारण शेष नहीं रहता।

दग्धे बीजे यथात्यन्तं न रोहति नवांकुरः।
कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥

यदि अन्न का दाना जल जाए तो वह नए अंकुर के रूप में उग नहीं सकता ऐसे ही कर्म-परम्परा नष्ट होने पर आत्मा का जन्म नहीं होता।

वे सिद्ध भगवान् किसी धर्म, संघ व्यवस्था का उद्धार करने के लिए न ही अवतार धारण करते हैं, न वहाँ से ही किसी पर अनुग्रह या अभिशाप बरसाते हैं। वे राग-द्वेष जन्य मानसिक प्रतिक्रिया नहीं करते क्योंकि न उनमें राग द्वेष हैं, न राग द्वेष का आधार मन है।

ये भी एक कारण है कि जैन इतिहास में भक्तिवाद अधिक नहीं पनप पाया। भक्ति में प्रायः भक्त प्रार्थना करता है और भगवान, उसकी प्रार्थना स्वीकार करता है। प्रार्थनाएं भौतिक भी हो सकती हैं, आध्यात्मिक भी। पर भक्त ये आशा तो करता है कि मेरे आराध्य भगवान् मेरे शरीरिक-मानसिक कष्टों का भी निवारण करें और अंततः

मुझे भव बंधनों से मुक्त कर अपने चरणों में स्थायी स्थान प्रदान कर दें।

लेकिन जैन दर्शन के अनुसार ये संभव नहीं था। फिर भी यहाँ समय-2 पर भक्ति के स्वर उभरे हैं। नमोत्थुणं (शक्रस्तव, प्रणिपात सूत्र) में अरिहन्त सिद्धों को नमन किया है, उनके गुणों का स्मरण और कीर्तन किया है परन्तु किसी प्रकार की सांसारिक या आध्यात्मिक मांग नहीं की। लोगस्स (चतुर्विंशतिस्तव) में समर्पण के साथ-2 कुछ याचना की भावना का प्रवेश हो गया है। पुत्र-मित्र-कलत्र-धन-वैभव जैसी छोटी-2 याचनाएं नहीं हैं बस, उम्दा किस्म की मांगें अवश्य हैं।

'तित्थयरा मे पसीयंतु
आरुग्ग बोहि लाभं समाहिवर मुत्तमं दिन्तु,
सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु'

तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न रहें। वे मुझे नीरोगता-सम्यक्त्व बोधि और उत्तम समाधि का दान दें। सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि की दिशा प्रदान करें।

इससे आगे जब उपसर्गहर स्तोत्र, भक्तामर, कल्याण मंदिर जैसे भक्ति प्रधान स्तोत्र बने तब उनमें ये बताया गया कि अरिहन्त सिद्धों की कृपा से, उनके नाम स्मरण, जाप और कीर्तन से नाना प्रकार के शारीरिक, सांसारिक कष्ट समाप्त हो जाते हैं। इन स्तोत्रों के बाद तो और भी काव्य बने, जिनमें बताया गया कि हर प्रकार की समस्या का समाधान भगवान् की कृपा से हो जाता है। लेकिन समस्याओं का समाधान होता कैसे है, इसके सम्बन्ध में जो तर्क दिए गए वे भिन्न-2 किस्म के रहे। पहला तर्क रहा जब कोई भक्त प्रभु के ध्यान में लीन हो जाता है तो उसकी जिन्दगी में महान् शक्ति पैदा हो जाती है और उस शक्ति जागरण से कष्ट स्वतः नष्ट हो जाते हैं। जैसे पशुओं के मालिक के तेज को देखकर चोर भाग जाते हैं। अथवा अग्नि के संपर्क से जैसे

हल्की धातुएं बहुमूल्य स्वर्ण बन जाती हैं वैसे ही प्रभु से आत्मसात् होने पर भक्त का स्वरूप बदल जाता है और उसके कार्य सिद्ध हो जाते हैं। दूसरा तर्क, जैसे साधारण जल भावनाओं से भावित होने पर अमृत बन जाता है और पीने वाले की पीड़ाओं का हरण कर लेता है ऐसे ही भक्ति भावना से ओत प्रोत मन भी रोग-शोक को दूर कर देता है।

पश्चाद्वर्ती चिन्तकों ने एक तर्क और दिया कि कुछ देवता और देवियाँ अरिहन्तों के प्रति श्रद्धा भक्ति संपन्न होते हैं, और उनका प्रयास रहता है कि अपने आराध्य की प्रभावना करें। इस उद्देश्य से वे अपने आराध्य भगवन्तों की भक्ति करने वाले नर-नारियों की इच्छा पूर्ति कर देते हैं और भक्त ये मान लेते हैं कि मेरी कार्य सिद्धि अरिहन्त भगवन्तों की वजह से हुई है। इस तर्क से जैनों के भावुक वर्ग की संतुष्टि भी हो गई और वीतरागता की Concept भी सुरक्षित रही।

हाँ, भगवान् की संज्ञाओं Nomenclature को लेकर जैन प्रारंभ से ही उदारवादी रहे। आत्म गुणों का पूर्ण विकास करने वाले भगवान् को किसी भी नाम से पुकार दो कोई आपत्ति नहीं है। राम भी भगवान् हो सकता है, हनुमान भी, महावीर भी तो गौतम स्वामी भी। इस उदारता की झलक के लिए आ. मानतुंग, आ. हेमचन्द्र के श्लोकों की ओर दृष्टिपात कर लें–

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रय शंकरत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

आपने जन-2 को बोधि दी तो आपको 'बुद्ध' कहना उपयुक्त है, आप संसार में शम् (शांति) करते रहे हो अतः 'शंकर' कहलाते हो, आप मुक्ति मार्ग का विधान करते हो इसलिए विधाता (ब्रह्मा) हो, हाँ, सचमुच आप पुरुषों में उत्तम पुरुषोत्तम (विष्णु) हो ही।

भव बीजांकुर जनना रागाद्याः क्षयमुपगता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

संसार में उत्पन्न करने वाले राग द्वेष आदि दोष जिनके भी क्षीण हो गए, उन्हें ही मेरा नमस्कार है, आप उसको किसी भी नाम से पुकारें-ब्रह्मा कहें, विष्णु कहें, शिव कहें, जिनेन्द्र कहें, ये मेरी चिन्ता नहीं है। मेरा नमन तो वीतरागों की वीतरागता को है।

आधुनिक युग में पंडित जुगल किशोर की लोक प्रिय रचना 'मेरी भावना' के प्रथम पद ने उसी वैचारिक विशालता को मुखरता से प्रस्तुत किया है।

जिसने रागद्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का निःस्पृह हो उपदेश दिया।

बुद्ध वीर जिन हरिहर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो,
भक्तिभाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहे ॥

जैन धर्म ने पारम्परिक अर्थों में भगवान् को भले ही न माना हो परन्तु सच्चे अर्थों में भगवान् को समझा और माना है तथा हर आत्मा से कहा है कि तुम भी भगवान् हो, हम भी भगवान् हैं, बस उस अव्यक्त को व्यक्त करना है।

कभी-2, कहीं-2 आत्मा को भगवान् बनाने वाले श्रेष्ठ सिद्धान्तों को भी 'भगवान्' कह दिया है, कारण को कार्य का नाम देने की मनोवृत्ति की वजह से। प्रश्न व्याकरण सूत्र में **'सच्चं खु भगवं'** कहकर सत्य को भगवान् साबित कर दिया। भगवान् शब्द को व्यक्ति परक न रखकर विचार-परक बनाना इस शब्द का सुन्दर विस्तार है। गांधी जी जैसे कट्टर ईश्वरवादी ने भी इस परिभाषा को स्वीकार किया है। वह जितना भरोसा ईश्वर की शक्ति पर रखते थे उतना ही भरोसा उन्हें आत्मगत सत्य पर भी था इसलिए वे भी बार-2

कहते थे Truth is God ईश्वर के विषय में गांधी जी की प्ररूपणाएं अनेक असंगतियों से भरपूर होती थी, मगर इस मान्यता को पेश करके वे अपनी असंगतियों का परिमार्जन कर लेते थे। आज आवश्यकता है, सत्य अहिंसा जैसे आत्म गुणों को तथा इन गुणों को जीवन में चरितार्थ करने वाले मानवों को भगवान् कह कर पुकारें।

6. अनेकान्त– सिद्धान्त एवं व्यवहार

Theory and Practical

भावना और तर्क मानव मस्तिष्क के दो रूप रहे हैं। जब तक भावनाएं जीवन का संचालन करती रही, तब तक शांति, सद्भाव और सहिष्णुता का साम्राज्य कायम रहा। जैसे-2 तर्क की प्रधानता बढ़ने लगी, वैसे-2 मानव सृष्टि में मतभेद, विरोध और टकरावों का प्रवेश होने लगा। भावनाओं का केन्द्र दिल को माना गया है तथा तर्क का केन्द्र दिमाग को माना गया।

अक्ल कहती है न जा कूचा-ए कातिल की तरफ
सरफरोशी की हवश कहती है चल क्या होगा

अथवा

जो राह अहले[1] खिरद के लिए है लामहदूद[2]
जनूने इश्क को वह चंदगाम[3] होती है

धर्म का मार्ग मुख्यतः भावनाशील प्राणियों के लिए बना था। या यों कहिए कि भावनाशील लोगों ने ही धर्म को अपनाया था। लेकिन धीरे-2 जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की तरह धर्म में भी बुद्धिप्रधान लोगों की पैठ हो गई, उनकी तार्किकता ने धर्म को दार्शनिकता (Philosophy) का जामा पहना दिया। इससे पहले धार्मिक व्यक्ति अपनी मानसिक समस्याओं का समाधान धर्म से पा लेते थे। अब वे अपने बौद्धिक प्रश्नों का उत्तर धर्म से, धर्म गुरुओं से लेने लगे। बौद्धिक प्रश्नों की प्रकृति है कि वे प्रश्न निजी नहीं होते, पराए होते हैं। वे स्वयं की संतुष्टि के लिए कम, औरों की संतुष्टि के लिए होते हैं। बौद्धिकता के प्रवेश के पश्चात् धर्म

---

1 अति बुद्धिमान 2 असीम 3 लघु

का ध्येय आत्मशांति न रहकर चर्चा और विचारणा रह गया। भगवान् महावीर के समक्ष ऐसे ही विद्वानों, बुद्धिमानों, विज्ञों एवं ब्राह्मणों का वर्ग आया जो अधिकतर तार्किकता के बल पर सत्य के करीब जाना चाहता था। और आश्चर्य इस बात का है कि भ. महावीर ने तार्किकता, बौद्धिकता के माध्यम से भी उन्हें सत्य का दीदार करवा दिया।

भ. महावीर को ज्ञात था कि बुद्धि का पात्र छोटा होता है, हृदय का पात्र बड़ा। लेकिन उन्हें बुद्धिपात्र को भी विशाल बनाने की क्षमता प्राप्त थी। अब युग उस मुकाम पर पहुंच चुका था, जब मानवबुद्धि के द्वार तो बन्द किए नहीं जा सकते थे। अतः आवश्यकता इस बात की थी कि बुद्धि के द्वार को व्यापक बनाया जाए। एक द्वार की जगह उसके दो, चार, दस, सौ, शत-सहस्र द्वार खोले जाएं, ताकि उन्हीं द्वारों के माध्यम से सत्य का साक्षात् हो सके, सत्य की प्ररूपणा हो सके।

श्रमण भ. महावीर ने बस धर्मदर्शन के इतिहास में विशेषरूप से यही महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यदि कोई दार्शनिक ये जिज्ञासा लेकर जैन दर्शन का अध्ययन करे कि इसके प्रवर्तकों ने कौन सा नया सिद्धान्त या तत्त्व प्रतिपादित किया तो उसे इस विषय में कोई सफलता नहीं मिलेगी। यदि वह ये अध्ययन करे कि इसने दार्शनिक जगत पर क्या उपकार किया है तो वह हैरान रह जाएगा कि इसने दार्शनिकता, तार्किकता, बौद्धिकता के जरिए इसे भावनात्मकता, धार्मिकता एवं आत्मीयता प्रदान कर दी है। बिखराव को जुड़ाव में परिवर्तित किया, अनेकता को एकत्व के सूत्र में अनुस्यूत किया, एकांगी सत्य को सर्वाङ्गीणता दी।

बुद्धि की सबसे बड़ी दुर्बलता ये है कि वह चाहती है वस्तु, व्यक्ति, जीवन या जगत् की एक लघु परिभाषा बना दी जाए और उसी में संतुष्ट रहकर सारा जीवन गुजार दिया जाए। यदि धर्म के विविध पहलू बता दिए जाएं तो बुद्धि अस्त व्यस्त हो जाती है, चकरा जाती

है। एकविधता में मस्त रहने वाली बुद्धि दो विकल्पों को स्वीकारने की बजाय 'दुविधा' कहकर नकार देती है।

आज विश्व में उन्हीं धर्म दर्शनों का बहुमत है जो 'एक' परमात्मा की धारणा पर टिके हुए हैं। ईसाईयत ने, इस्लाम ने 'एकेश्वर' (Monotheism) देकर अपने अनुयायियों को उसे ही मानने का संदेश दिया तथा सत्य के अन्य पक्षों से आंखें मुंदवा दी। भारतवर्ष में भी वेदान्त ने **"एकमेव ब्रह्म, द्वितीयं नास्ति"** का नारा देकर विशाल जन समुदाय को निश्चिन्तता का सबक सिखा दिया। भगवती सूत्र में ऐसा ही प्रश्न भ. महावीर के समक्ष आया था– सोमिल ब्राह्मण ने पूछा– आपको जन-2 भगवान् कहता है। तो बताओ– आप एक भगवान् हो, दो भगवान् हो या अनेक भावों वाले भगवान् हो। आप किस तरह के भगवान को मान्यता देते हो? वह चाहता था कि भ. महावीर इनमें से किसी एक उत्तर पर Tick कर दें और बात खत्म हो जाए मगर भ. महावीर ने तो तीनों ही विकल्पों को Tick कर दिया और सोमिल के लिए उलझन खड़ी हो गई। कुछ असहमति के स्वर में सिर धुनते हुए वह पूछता है कि ऐसे कैसे? प्रश्न एक है– पर उत्तर तीन कैसे? और तीनों विरोधी उत्तर सही कैसे? भ. महावीर इस जिज्ञासा को जगाना चाह रहे थे। क्योंकि जिज्ञासा की तृप्ति का साधन तो उनके पास था ही। उन्होंने फरमाया कि एक दो या अनेक ये संख्याएं परस्पर विरोधी नहीं हैं, विभिन्न हैं।

वस्तुतः संसार में कुछ भी विरोधी नहीं होता। हम अपनी संकीर्ण बुद्धि के कारण भिन्न वस्तुओं को विरोधी मान लेते हैं। क्या स्त्री और पुरुष आपस में विरोधी हैं? नहीं। वे एक दूसरे से भिन्न हैं और एक दूसरे के परिपूरक भी हैं। दोनों की परिपूरकता से ही विश्व व्यवस्था सुरक्षित है। यदि ये विरोधी होते, एक दूसरे का विनाश करके स्वयं को बचाते तो न स्वयं बच पाते और न सृष्टिक्रम बच पाता। काला

रंग और श्वेत रंग भी Contradictory नहीं हैं, Complimentary है। साधारण से फोटो को बनाने में भी Black and white दो Colours तो आवश्यक हैं ही। और यदि फोटो को अधिक सजीव बनाना हो तो Multi Calour संयोजन करना पडेगा। यदि रंगों की विविधता और उसकी महत्ता को बुद्धि स्वीकार कर सकती है तो जीवन जगत् के सम्बन्ध में व्यक्त होने वाली विचार विविधता को लेकर बुद्धि क्यों बन्द हो जाती है? भ. महावीर प्रभु ने सोमिल को समझाया कि मैं उपयोग गुण की अपेक्षा से एक हूँ, संसार का प्रत्येक जीव इस गुण की दृष्टि से मत्स्वरूपी (Just like me) है। मैं ज्ञान दर्शन दो रूपों में पाया जाता हूँ। मेरा उपयोग जब प्रगट (Apparent) होता है तो मैं ज्ञानात्मक हूँ और जब मेरा उपयोग अप्रगट (Latent) होता है तो मैं दर्शनात्मक हो जाता हूँ। मैं ही नहीं, तुम भी ऐसे ही एक हो, दो हो, और अनेक भावों से भावित हो। मैं भी अनेक भावों से भावित हूँ। तथा मेरी अनेक रूपता भी जग जाहिर है। मैं मानव भी हूँ, केवली भी हूँ, तीर्थंकर भी हूँ। 60-70 वर्षीय भी हूँ, त्रिशालापुत्र सिद्धार्थनन्दन भी हूँ, अतीत के परिप्रेक्ष्य से अनन्त दौरों से गुजरा हूँ तो मैं अनेकात्मक हो गया। मेरी दृष्टि व्यापक है, आप भी अपनी दृष्टि को व्यापक बनाओ अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण आत्मसंहारक तथा विश्व संहारक हो जाता है। सोमिल ने महावीर भगवान की विशाल दृष्टि को आत्मसात् किया।

जिन संस्कृतियों, सभ्यताओं, धर्मपरम्पराओं को ये व्यापकता नहीं मिली, उन्होंने असहिष्णुता का मार्ग अपनाया और विश्व पर कहर बरपा किया। इस्लाम ने उस हर आवाज को कुचला जिसने उसके 'एक अल्लाह' के घोष को सुनने और मानने से इंकार कर दिया। यही कहानी ईसाइयों की भी है, उसने भी तलवार का सहारा लिया और हर किसी विचार को प्रतिपक्षी मान कर मौत के घाट उतार दिया। विश्व का सारा जिहादी इतिहास इस एकांगी सोच का नतीजा रहा है। जबकि भारतीय सांस्कृतिक धारा का मुख्यस्वर अनेकात्मकता का रहा है। उसने अपने

से भिन्न धर्म संस्कृति या विचार का जब-2 प्रत्यक्षीकरण किया, तब-2 अपने सर्वग्राही अंक को व्यापक बना लिया तथा उस नूतन विचारधारा को अपने में समाहित समाविष्ट कर लिया। यदि नूतन विचार धारा अधिक प्रबल हुई तो यह संस्कृति अपनी कुर्बानी देकर उसमें समाविष्ट हो गई। बहुत कम ऐसा हुआ है कि उसने नए विचार को प्रतिद्वन्द्वी मानकर कुचला या समाप्त किया हो। उसे प्रभावित करना अलग बात है, बर्वाद करना अलग। समग्र भारतीय संस्कृति से भी बढ़कर जैन संस्कृति रही है, उसने तो किसी भी सोच को उपेक्षित, तिरस्कृत और धिक्कृत नहीं किया। भ. महावीर स्वामी के पास उनकी प्रथम धर्मसभा में ग्यारह ब्राह्मण विद्वानों ने अपनी-2 शंका निवृत्ति के पश्चात् दीक्षा अंगीकार की, तब प्रभु ने इन्हें बौद्धिक एकान्तवाद की समाप्ति के लिए तीन शब्दों का संदेश दिया था। उस संदेश में ही चौदहपूर्वो की जानकारी ज्ञानमयी हो गई। 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।' वस्तु न केवल क्षणिक है, न केवल शाश्वत है, वह उत्पत्ति, विपत्ति, स्थिति, तीनों गुणों से मण्डित होती है। ये त्रयात्मकता निर्जीव पुद्गलों में ही दृष्टिगोचर नहीं होती अपितु आत्मा जैसे सजीव तथा आकाश जैसे अमूर्त तत्त्वों में भी मौजूद होती है।

आदीपमाव्योम समस्वभावं, स्याद्वाद मुद्रानति भेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यद् इति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥

न तो दीप की लौ क्षणिक ही है, न आकाश नित्य ही है। दोनों एक पहलू से नित्य भी हैं तो दूसरे पहलू से अनित्य भी है। नित्यता और अनित्यता दोनों दिखने में विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं पर वास्तविकता में वस्तु के अस्तित्त्व को बनाने वाले सहयोगी धर्म हैं। काल चक्र के प्रवर्तन की कहानी तभी तक है जब तक दिन और रात आते और जाते रहते हैं। दिन और रात न हों तो शीतलता और उष्णता का चक्र न घूमे, फिर ऋतुएं न हों, जगत का वैविध्य और वैचित्र्य न हो। इससे

आगे बढ़ें तो हम पाएंगे कि प्रकाश और अंधकार भी पूरी तरह विरोधी नहीं हैं। क्योंकि हम दिन के समय प्रकाश को बहुल रूप में पाते हैं, सम्पूर्ण रूप में नहीं। तथा रात्रि के समय अंधकार को भी अधिकांश में पाते हैं; सर्वथा नहीं। यदि दिन में Absolute प्रकाश हो तो हमारी आंखें उस प्रकाश को देख भी न पाएंगी। हम दिन में देख पाते हैं इसका एक मात्र कारण ये है कि हम अंधकार मिश्रित प्रकाश में जी रहे हैं। तथा रात्रि के समय भी शत प्रतिशत अंधकार हो ऐसा नहीं होता। अंधकार की बहुलता होती है और प्रकाश की अल्पता। प्रकाश का सर्वथा अभाव कभी हो ही नहीं सकता। असीम अनन्त आकाश में बेशुमार तारा मण्डलों का प्रकाश प्रतिसमय धरती पर आ रहा होता है। केवल सूर्य का प्रकाश नहीं होने से हमारी निगाह में उस समय अंधकार होता है Absolute Darkness की अवस्था सृष्टि में कभी घटित हो ही नहीं सकती। जो कुछ है सब Relative है। आइंस्टीन ने Theory of Relativity देकर विज्ञान के माध्यम से स्पष्ट किया है कि प्रत्येक घटना को सापेक्षता के सदर्भ से समझा जाए। उसे सर्वथा, सर्वदा, सर्वत्र, एक सत्य न कहें। बल्कि अपेक्षा विशेष से ही सत्य कहें। एक पत्थर का वजन एक किलोग्राम है तो इसका अभिप्राय ये है कि पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण (Gravity) की अपेक्षा वह पत्थर एक किलो है। चन्द्र धरातल पर उसका वजन 400 ग्राम हो सकता है। तो Saturn पर उसी पत्थर का वजन 4 किलो भी हो सकता है। एक ही वस्तु भिन्न-2 Gravitation के हिसाब से, प्रभाव से, भिन्न-2 भार अपना लेती है। इस तथ्य को श्रमण भ. महावीर ने स्याद्वाद की भाषा में प्रस्तुत किया है। यही स्याद्वाद विज्ञान में सापेक्षतावाद कहलाया है। भ. महावीर ने किसी भी घटना, तथ्य या वस्तु की व्याख्या करते हुए कम से कम चार पहलू अवश्य उद्घाटित किए हैं। i द्रव्य ii क्षेत्र iii काल iv भाव। एक Element का अस्तित्त्व अपने आप में कभी भी नहीं बन सकता। यदि उस Element के साथ अन्य Elements की सापेक्षता न जोड़ी जाए।

इसी तरह किसी खास Space, Time तथा Modes के संदर्भ में ही उस वस्तु का अस्तित्त्व है।

दो विरोधी प्रतीत होने वाली बातें भी द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के सन्दर्भ (Context) में देखी जाएं तो विरोधी नहीं रह जाती। जैसे अनन्त और सान्त (Unlimited and limited) दो अवधारणाएं विरोधी नजर आती हैं पर यदि हम लोक और सिद्धि इन दो अवस्थाओं को इन चार पहलुओं की कसौटी पर कसकर देखें तो ये विरोध समाप्त हो जाएगा। और एक समन्वित सत्य उभरकर आएगा। लोक और सिद्धि द्रव्य (Number of elements) के पहलू से एक है अतः Limited है। क्षेत्र (Expansion of Field) की अपेक्षा लोक चौदह राजू प्रमाण है। सिद्धि 45 लाख योजन प्रमाण है। अतः Limited है। पर समय (Beginning and end) के पहलू से इन दोनों का कोई ओर छोर नहीं है। अतः अनन्त (Unlimited) है। भाव (Inherent Properties) के पहलू से तो दोनों हैं ही अनन्त। केवल लोक और सिद्धि ही नहीं अन्य सभी वस्तुएं इन चार पहलुओं से देखी जाएं तो उन वस्तुओं का कुछ व्यापक स्वरूप समझ में आएगा। और तथाकथित विरोध भी दरकिनार हो जाएंगे। यदि हमारा Vision व्यापक हो जाए तो अपने से भिन्न व्यक्ति के विचार को समझने और मानने की क्षमता भी विकसित होगी। फलस्वरूप उसे भी हम अपने समकक्ष सम्मान और अधिकार दे सकेंगे। अन्यथा अन्य व्यक्ति हमें विपक्षी प्रतीत होगा। और उसे परास्त, पराजित करने की कुचेष्टा हम करेंगे। सामने वाला भी उसी तरह प्रतिप्रहार करेगा फलतः सत्य का और सभ्यता का खून होना शुरू हो जाएगा। एकांगी चिन्तन का सुप्रसिद्ध उदाहरण छह अंधों द्वारा हाथी के निरीक्षण वाला है।

किसी हाथी के मालिक ने छह अंधों को हाथी का ज्ञान देने के लिए उनको हाथी के अलग-2 अंग स्पर्श करवाए। छहों ने एक-2 अंग को अंतिम सत्य अर्थात् सम्पूर्ण हाथी मान लिया। बाद में वे इस आंशिक

ज्ञान के आधार पर विवाद करने लगे। एक कहता है कि हाथी केले के पेड़ की तरह है, क्योंकि उसने हाथी का सूण्ड छुआ था। दूसरा कहता है कि हाथी छाज की तरह होता है क्योंकि उसने हाथी का कान छूआ था। तीसरा विशाल घड़े के तुल्य बताता है जिसने माथे का स्पर्श किया। चौथा खम्भे की तरह बताता है, उसे पैर छूने का मौका मिला था। पांचवां रस्सी जैसा बताता है क्योंकि उसके हाथ में पूंछ आई थी। छठा तलवार के समान बताता है, कारण ये कि उसे बड़ा दांत छुवाया गया। सबका अपना-2 ज्ञान था, उसी ज्ञान का आग्रह था। उस आग्रह के कारण विग्रह होने लगा। जब किसी ने कहा कि हाथी छहों प्रकार का होता है तथा छह से भी अधिक प्रकार का होता है। तब उन्हें सम्पूर्णता की कुछ झलक मिली और वाद विवाद शान्त हुआ। हाथी के आंशिक ज्ञान की तरह ही सत्य का आंशिक ज्ञान भी संघर्षों को जन्म देता है। इसलिए श्रमण भ. महावीर ने एकान्त दृष्टि को ही मिथ्यात्व कहा है। तथा अनेकान्त दृष्टि को सम्यक्त्व।

मानव बुद्धि की सबसे बड़ी समस्या ये है कि वह Compartmentalised Style में जीती हैं। एक विषय जो जहां Feed हो गया, उसी को पर्याप्त, समग्र मान लेती है, अन्य किसी चिन्तन के आते ही वह React करती है, उखड़ सी जाती है। उसे बहुत देर बाद समझ आती है कि अन्य विचार पूर्व विचार को पुष्ट करने आया है, नष्ट करने नहीं। यदि जरा सा धैर्य और औदार्य आ जा जाए तो बुद्धि का दायरा व्यापक हो जाए। वैज्ञानिक विकास का इतिहास बताता है कि किसी भी नए आविष्कार का पहले Hypothesis तैयार किया जाता है, फिर तुरन्त बाद उसका Anti thesis आता है। ये दोनों एक दूसरे के दुश्मन नहीं हैं। कुछ देर तक दोनों साथ-2 चलते हैं फिर एक नव निर्माण होता है जिसे Synthesis का नाम दिया जाता है।

हाँ (Yes) और ना (No) जैसे Common word भी इतने विलोम (Antonym) नहीं हैं, जितने हमने समझ लिए हैं। ये एक विस्तृत

फलक के वैसे ही दो रूप हैं, जैसे सिक्के के दो पहलू होते हैं। कल्पना करो– मानव को जीवन में जो उपलब्ध हुआ है, उसके प्रति उसका क्या रुख होना चाहिए। ज्यादातर हितैषी कहेंगे कि उसकी सोच Positive होनी चाहिए। तभी वह अपनी उपलब्धियों का आनन्द ले सकेगा। अन्यथा वह असंतुष्ट, अशान्त और असमाहित हो जाएगा। लेकिन कुछ व्यक्ति ये भी कहने वाले मिलेंगे कि यदि वह Positive सोच ही रखेगा तो वह अगली प्रगति के द्वार बन्द कर देगा। नया कुछ क्यों करेगा। उसे Negative सोच बनानी चाहिए, वह वर्तमान पर प्रश्न चिन्ह लगाएगा, तभी विकास की ओर अपने चरण बढ़ाएगा। तीसरा व्यक्ति ये भी परामर्श देगा कि मानव को शान्ति भी चाहिए, तो प्रगति भी चाहिए, और उसे संतुलित ढंग से Positive और Negative दोनों दृष्टिकोण अपनाने चाहिएं। ये है अनेकान्तवादी भाषा और विचार। जहाँ Positive और Negative साथ-2 (Simultaneously) चल सकते हैं। हाँ, समय-2 पर प्रसंग और परिस्थिति के अनुसार कभी प्रथम पक्ष को उभार दिया जाता है, कभी द्वितीय पक्ष को। जब प्रथम पक्ष की चर्चा की जाती है तब द्वितीय पक्ष का अपलाप, निषेध या खण्डन नहीं किया जाता। केवल अवर्णन (Non Mentioning) होता है। एक जैनाचार्य ने इस तथ्य को समझाते हुए लिखा है कि जैसे एक ग्वालिन दही को रिडकते (मथते) समय मधानी की रस्सी के एक छोर को खींचती है तो दूसरे छोर को ढीला छोड़ देती है, और इस प्रक्रिया से मक्खन निकलता है। इसी प्रकार पहले समय में समग्र सत्य के एक तथ्य को उजागर किया है और अन्य तथ्य को तिरोहित किया जाता है। तो दूसरे समय में तिरोहित पक्ष को उजागर किया जाता है और प्रकट पक्ष को तिरोहित कर दिया जाता है। इस द्विविध प्रक्रिया से समग्र सत्य की अभिव्यक्ति होने की संभावना बनती है। निषेध भी परिस्थिति, विधि, संदर्भ के परिवर्तन से निषेध न रहकर स्वीकृति बन जाता है। Two minus is equal to plus.

दो मनफियों के मिलने से बनती है मसनवी
तुम भी खुदा के वास्ते कह दो नहीं नहीं ॥

नहीं-2 का अर्थ यहाँ हाँ है। क्योंकि दो मनफी [Minus] से मसनवी [Plus] बनता है।

तर्क के अनुसार सत्य के अनेक रूपों को सिद्ध करने के वावजूद आग्रह पूर्ण चिन्तन जैनों पर यही आरोप लगाता है कि ठण्डे गर्म, प्रकाश अंधकार को एक साथ रखने का प्रयास बेमानी है। मानव को इस वास्तविकता के करीब लाना अभी भी टेढ़ी खीर है।

आग्रही बत निनीषति युक्तिं यत्र यत्र मनोऽनुधावति

आग्रहपूर्ण चित्त को वही युक्तियां अच्छी लगती हैं जो उसके अनुकूल हों।

एकान्तवादी चिन्तक कहता है मैं ही सत्य की समझ रखता हूं। मेरा धर्म, मेरा सम्प्रदाय ही सही है ये धारणा उसकी दृढ़ मूल रहती है। 'ही' को छोड़ना 'भी' को अपनाना वैचारिक क्रांति है जो उसके वश की बात नहीं है। उन्हें वह भय सताने लगता है कि यदि हमने सामने वाले की मान्यता को सही कह दिया तो हमारी मान्यता झूठी सिद्ध हो जाएगी। उनका यह भय निराधार है, क्योंकि अन्य की सत्यता मेरी सत्यता को निरस्त-ध्वस्त नहीं करेगी। मैं भी सत्य का अधिकारी रहूंगा, सामने वाला भी। सत्य इतना विशाल है कि कोई भी व्यक्ति उसकी सीमा से बहिष्कृत नहीं होता। न मैं, न तुम, न वह। First, Second, Third तीनों Persons एक समय में सत्य के स्वामी हो सकते है।

जैन तीर्थ प्रणेताओं का मूल अनेकान्तवादी दृष्टिकोण नंदी सूत्र में स्थान-2 पर झलक रहा है। वहाँ स्वलिंग सिद्ध, अन्य लिंग सिद्ध तथा गृहस्थ लिंग सिद्ध तथा सिद्धि के लिंग आधारित ये तीनों विकल्प प्रदान किए हैं। यहाँ लिंग (वेष) की उपेक्षा तथा साधना की सापेक्षता को ही

प्राथमिकता दी है। जैनों के एकान्तवादी वर्ग ने इस कथन को भी अपने ही सांचे में ढालने का प्रयास किया है। पर यह एक ऐसा जगमगाता सत्य है जो अपनी प्रामाणिकता को स्वयं ही बयान कर देता है। उसे किसी व्याख्याकार का मोहताज होना मंजूर नहीं है। उसी नंदीसूत्र में मिथ्याश्रुत की चर्चा करते-2 एक भव्य रहस्योद्घाटन किया है कि यदि दृष्टि सम्यक् हो तो मिथ्याश्रुत मिथ्या नहीं रहता, सम्यक्श्रुत बन जाता है। इसी विचार सारणी को आगे बढ़ाते हुए एक प्राचीन जैनाचार्य ने लिखा कि जितने भी मिथ्यादर्शन सिद्धान्त हैं, उन सब को एकत्र कर देने से विशुद्ध और सम्पूर्ण जैन दर्शन बन जाता है। अर्थात् जैन दर्शन से बाहर कोई मिथ्यादर्शन है ही नहीं। जैसे बिखरे हुए मणकों को मिलाकर एक सूत्र में पिरोने से माला बन जाती है, ऐसे ही सभी दर्शनों को एक सूत्रबद्ध करने से जैनदर्शन का स्वरूप प्रकट हो जाएगा। अर्थात् जैनों के अनेकान्त में कोई परकीय दर्शन है ही नहीं, फिर विरोध और विसंवाद कैसा?

वैचारिक उदारता के कारण ही भ. महावीर स्वामी ने भिन्न धर्मों में प्रचलित शब्दों को स्वीकारने में संकोच नहीं किया। यात्रा, जाप, अव्याबाध, विहार आदि शब्दों की व्याख्या बदलकर उन्होंने ये शब्द अपने संघ में प्रचलित किए। यज्ञ का खण्डन करके भी इस शब्द की भव्य परिभाषाएं दी तथा अपने मुनियों को यम-यज्ञ-यायाजी[1] कहा। जैनों के समग्र इतिहास में अनेकान्त दृष्टि का प्रवाह बहता रहा है। इसी कारण भिन्न मान्यताओं धारणाओं के प्रति सहिष्णुता और स्वीकृति बनी रही।

निदर्शन के रूप में, राजा भोज के मन में विचार आया कि आजकल छह दर्शनों के हजारों विद्वान स्थान-2 पर शास्त्रार्थ, चर्चाएं करते रहते हैं। रोज-2 कलह क्लेश का वातावरण बनता है। क्यों नहीं; एक दर्शन की ही व्याख्या लोगों को दी जाए, ताकि अलग-2 विचारों को सुनकर

---

1 संयम यज्ञ के करने वाले

सामान्य जन भ्रांत न हो। उसने हजारों विद्वानों को एक विशाल सभागार में एकत्रित कर दिया तथा आदेश दिया कि तुम सब मिलकर किसी एक मार्ग को तय कर लो, मुझे दिन प्रतिदिन का कलह पसन्द नहीं है। जब तक एक धर्म दर्शन का स्वरूप निर्णीत नहीं होगा, सब अन्दर कैद रहोगे। काफी दिन बीत गए, ऐकमत्य नहीं हुआ। अंततः एक जैन सन्त सूराचार्य, जो राजा भोज के निमन्त्रित अतिथि थे, ने राजा भोज से पूछा कि आपकी नगरी की क्या विशेषता है? भोज ने बताया हमने 84 मुख्य प्रासाद बनवाए हैं। प्रत्येक प्रासाद से एक चौराहा निकलता है तथा अलग-2 वस्तुओं की खरीदारी के लिए 24 बाजार बनवा दिए हैं। सूराचार्य ने पूछा– आप 24 बाजारों की बजाय एक ही बाजार (Market) क्यों नहीं बनवा देते? राजा ने कहा– जिस व्यक्ति को कपड़ा खरीदना हो, वह कपड़ा मार्किट में चला जाए। जिसे लोहे का सामान लेना है वह उधर चला जाए। यदि एक ही बाजार में सारी दुनिया जाएगी तो अव्यवस्था फैल जाएगी। सूराचार्य ने कहा– ऐसे ही संसार में भिन्न-2 प्रकृति, रुचि एवं मति के लोग हैं। किन्हीं को भोगों के प्रति, इस वर्तमान संसार के प्रति रुचि है वे चार्वाक दर्शन को अपना सकते हैं। जिन्हें स्वर्ग चाहिए वे पूर्व मीमांसा का पल्ला पकड़ लें। जिनका हृदय दया पूर्ण है वे जैन दर्शन की ओर झुकाव कर लें। जिन्हें शून्य में जीने की रुचि है वे बौद्ध धर्म की शरण ले लें। जो भक्ति में रस लेते हैं वे सांख्य को अपना लें। अर्थात् हर व्यक्ति की रुचि भिन्न है। फिर सारी मानवता के लिए एक धर्म कैसे बनाया या थोपा जा सकता है। बस इतना ही करें कि सभी धर्म गुरु अपने धर्म से अलावा अन्य धर्मों का अध्ययन करें तथा अन्य धर्मों के दृष्टिकोण को समझ विरोध न करें। तो व्यर्थ की चर्चाओं का दौर खत्म हो जाएगा। धर्म अनेक हों। या एक हो पर समन्वय भाव का धागा सब में हो। राजा भोज ने सब विद्वानों को मुक्त कर दिया।

जैनों के विचार कितने उदार रहे हैं– इसका उदाहरण "षड्-दर्शन समुच्चय" ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। महान् जैनाचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने विश्व में सर्व प्रथम ऐसे ग्रन्थ की रचना की है जिसमें अपने दर्शन के साथ-2 अन्य छह दर्शनों का सर्वाङ्गीण स्वरूप प्रस्तुत किया है जिसमें किसी भी दर्शन की आलोचना या विरोध नहीं है।

इस अनेकान्तवादी समन्वय प्रधान विरासत के बाबजूद जैन विचारकों में भी कुछ आचार विचारों के प्रति पूर्ण विरोध रहा और आज भी है। जैनों के आचार विचारों में अहिंसा के प्रति इतनी गहरी आस्था है, इतने ठोस संस्कार हैं कि यदि उन्हें ये कह दिया कि फलां धर्म के लोग मांसाहार करते हैं तो निश्चित रूप से जैन उन्हें धार्मिक नहीं मान सकते। इसलिए जैनों का अनेकान्तवाद यहाँ आते ही छूट जाता है। क्या अनेकान्त ऐसे आचरण को भी क्षम्य घोषित कर सकता है? क्या पाप पुण्य, धर्म अधर्म, अच्छाई बुराई के द्वन्द्वों को अनेकान्तवाद स्वीकृति दे सकता है? क्या किसी पहलू से युद्ध; मारकाट को जायज ठहराया जा सकता है?

वस्तुतः जैनों ने अनेकान्तवाद को वहाँ तक तो स्वीकारा, जहाँ तक नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व, सामान्य विशेष, द्रव्य गुण, भेद अभेद जैसे परस्पर विरोधी दार्शनिक प्रश्न सुलझाए जाते थे, पर जैसे ही आचार मूलक, क्रिया रूप मुद्दे उभरने लगे, जैनों ने भी अनेकान्तवाद को दर किनार कर दिया।

अनेकान्तवाद ही ऐसी Master Key है, जो दार्शनिक हो या व्यावहारिक, प्रत्येक बन्द ताले को खोल सकती है। गौर करें तो पता चलता है कि पुण्य पाप, धर्म अधर्म, अच्छाई बुराई की प्रचलित प्रत्येक परिभाषा Relative है। समय, स्थान, प्राणी, परिस्थिति तथा भाव सापेक्ष है। इसलिए समय स्थानादि के परिवर्तन के साथ इनकी

परिभाषाएं परिवर्तित होती है। इन परिभाषाओं को Absolute मानकर किसी एक सांचे में ही नहीं ढाला जा सकता।

"किं कर्म किमकर्म कवयोऽप्यत्र मोहिताः"

बड़े-2 कवि मनीषी ज्ञानी मानव भी कर्तव्य-अकर्तव्य, अच्छाई-बुराई को लेकर भ्रान्त हो जाते हैं। कभी कहीं किसी के लिए युद्ध पाप है तो अन्य परिस्थिति में धर्म भी है। किसी पतिव्रता नारी का शीलहरण करने के लिए किया गया युद्ध तथा उसकी रक्षा के लिए किया गया युद्ध समान नहीं हो सकते। दोनों प्रकार के युद्ध में शस्त्र प्रहार होता है, रक्त पात होता है, जीवन ध्वंस होता है, पर दोनों के पीछे लक्ष्य भिन्न है। अतः लक्ष्य भिन्नता से अच्छाई बुराई के अलग-2 Tag तैयार किए जाते हैं। भ. महावीर स्वामी ने अहिंसा को उत्कृष्ट धर्म बताकर भी साधु और श्रावक की अहिंसा, ये दो रूप निरूपित कर दिए हैं। श्रावक के लिए एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की हिंसा वर्जित नहीं की। यदि वह किसी उच्चतर उद्देश्य के लिए स्थावर कहलाने वाले तत्त्वों का इस्तेमाल करता है तो वह पाप न होकर पुण्य भी बन जाता है। प्यासे मानव या पशु की प्यास शान्त करने के लिए पानी पिलाना अधर्म नहीं, धर्म है। ऐसी अवधारणा भाव प्रधान जैन धर्म ने दी है। फिर त्रस जीवों की हिंसा के सम्बन्ध में भी आरम्भिकी और सांकल्पिकी दो विभाजन करके एक को अनुमत, दूसरी को निषिद्ध किया। निषिद्ध सांकल्पिकी हिंसा में भी अपराधी निरपराधी का Clause जोड़ा गया। निरपराधी का वध पाप कहा गया तो अपराधी का वध पाप की कोटि में नहीं रखा। इसीलिए जैन इतिहास में युद्ध करने वालों में नरक जाने वालों का उल्लेख है तो देवलोक जाने वालों का वर्णन भी है। अर्थात् युद्ध की घटना को एक ही Prism से नहीं देखा गया।

जब हम कसाई और डाक्टर के चाकू को समान-एक सरीखा नहीं मानते, तो हम यही साबित करते हैं कि क्रिया एक होते हुए भी लक्ष्य

भिन्नता और भावभिन्नता से फलभिन्नता भी होती है। ये सारी सोच उन्हीं को उपलब्ध होती है, जो एकांगी चिंतन से ऊपर उठकर अनेकांगी या सर्वाङ्गीण चिन्तन तक पहुंच जाते हैं। विश्व में कुछ धर्मों का उद्भव उस समय उस भूमि पर हुआ, जिस समय, जिस जगह मानव के पास भोजन के दो विकल्प नहीं थे। शाकाहार मांसाहार दो में से एक को चुनने का सौभाग्य भारत को, भारत के भी मैदानी भूभाग को उपलब्ध रहा है। शेष विश्व को दो विकल्पों में से एक को चुनने की सुविधा नहीं थी। अत्यधिक बर्फ, अत्यधिक रेगिस्तान, अत्यधिक समुद्रीय परिवेश में कृषि का Scope नहीं होने से जीवन रक्षा का एक मात्र साधन उनके पास मांस था, मछली थी। उस तरह की Diet से पले पुसे धर्म गुरुओं ने मांसाहार का विरोध नहीं किया। और हजारों सालों में यह Diet उनके अनुयायियों की Food Habit बन गई। यदि वो आदत आजतक भी नहीं छुटी है, तो उस-2 धर्म के प्रत्येक व्यक्ति को महापापी नरकगामी बताकर Condemn करना शायद एकान्तवादी आग्रह बन सकता है। इस विचार के प्रतिपादन से खतरा ये खड़ा हो जाएगा कि क्या ये उदार चिन्तन मांसाहार को प्रोत्साहित नहीं करेगा। अनेकान्तवादी उत्तर ये होगा कि संभव है, प्रोत्साहित करे, संभव है, न करे। संभव है मांसाहार को रोके। अनेकान्तवाद की यही तो खूबी है कि वह दावा एक भी नहीं करता और संभावनाएं शत सहस्र खोल देता है। जिसको दावे की भाषा पर यकीन है वह एकान्तवाद को अपना सकता है। जो केवल संभावनाओं को वास्तविक समझता है वह अनेकान्त को स्वीकार कर सकता है। मांसाहार के सन्दर्भ में एक अनेकान्तरूप परामर्श है कि **मांसाहार** को सर्वथा अनुचित बुरा ठहराते हुए भी **मांसाहारी** को बुरा न कहें। उसका दिल दुखाना, अपमान करना भी हिंसा की कोटि में आ सकता है। यदि एक मांसाहारी व्यक्ति के जीवन में असत्य, चोरी, बेईमानी, कृपणता, दुराचार, निन्दा चुगली जैसी बुराइयां न हों तो क्यों न ये कहा जाए; सोचा जाए कि इस आदमी का जीवन एक पहलू से बुरा

है, अन्य पहलुओं से अच्छा है। और इसके विपरीत विशुद्ध शाकाहारी मानव के जीवन में असत्य, बेईमानी आदि अधिकांश दोष दुर्गण हों तो ऐसा बोला जाए कि यह व्यक्ति एक अंश में अच्छा है, शेष अंशों में बुरा है। ऐसा निष्पक्ष तटस्थ चिन्तन अनेकान्तवाद से उद्भूत हो सकता है।

अनेकान्तवाद को लेकर जैनों की दूसरी समस्या आपसी साम्प्रदायिक परम्पराओं को लेकर खड़ी होती है। दिगम्बर संस्कारों में पले मानस को श्वेताम्बर संप्रदाय में कुछ भी सम्यक् (सम्यक्त्व युक्त) प्रतीत नहीं होता। तथा श्वेताम्बरत्व से पुष्ट मन को दिगम्बर व्यवस्था सर्वथा अशुद्ध और मिथ्या प्रतीत होती है। ये कलह क्लेश कभी-2 शास्त्रार्थ तक पहुंचा है तो कभी-2 सरकारी अदालतों तक तथा उस स्थिति में न्यायपीठ पर बैठे महानुभावों की टिप्पणियां इतनी करारी और सपाट होती हैं कि उनका जवाब देना अशक्य हो जाता है। टिप्पणियों का स्वरूप होता है— "तुम जैन इन छोटे-2 मसलों को खुद क्यों नहीं सुलझा लेते। क्या महावीर की सहिष्णुता और उदारदृष्टि तुम्हारे होठों पर ही होती है या व्यवहार में भी?" इस समस्या का भी मुख्यकारण एक ही है कि हम केवल एक पक्ष को अंतिम मान लेने के आदी हो गए या हमें सिखा दिया है कि अपने विश्वास को बार-2 मत बदलो, स्थिर रहो। आस्थावान् बनो— आस्थावान् होना धार्मिकता की पहली शर्त है। इस आस्था का प्रमाणपत्र तब हासिल होगा, जब अपने पक्ष को सही कहते हुए दूसरे पक्ष को गलत भी कहो। इस चिन्तन के फल स्वरूप समाधान देने वाला जैन समाज स्वयं असमाहित है। मूर्छा को परिग्रह कहने वाले वर्ग ने सारी मूर्छा वस्त्र पर केन्द्रित कर दी और सवस्त्र मुनि को गृहस्थ मान लिया, घोषित कर दिया। वस्त्र त्याग में असमर्थ स्त्री को मुक्ति से वञ्चित कर दिया। क्या ही अच्छा होता कि दिगम्बर और श्वेताम्बर अनावश्यक विवादों में, उत्तर प्रत्युत्तरों, आरोप प्रत्यारोपों में न पड़कर फैसला ले लेते कि **"कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव"** न वस्त्र रखने का

आग्रह रखते, न छोड़ने का। जहाँ तक केवली भुक्ति[1] का विवाद है वह तो निष्कारण ही उभर आया। इसकी उपेक्षा ही इसका समाधान है। केवली को अनाहारक तो कोई मानता नहीं, फिर वह कवलाहार है या रोमाहार, इस मुद्दे को चर्चित करने का औचित्य ही नहीं रह जाता। अनेकान्तवाद के आगे इन मुद्दों में अधिक दम नहीं रहता।

कुछ ऐसा ही मसला मूर्ति को लेकर आगे आया है। समर्थकों के लिए यह Prestige Issue है तो विरोधियों के लिए घोर मिथ्यात्व। संतुलित समुचित सोच का अभाव दर्शाता है कि अनेकान्त को जैनों ने औरों को सिखाया है पर स्वयं नहीं सीख पाए। जैनों की ये शाखाएं परस्पर प्रतियोगी न बनकर सहयोगी बनती तो मूल-वृक्ष (जैन शासन) की श्रीवृद्धि कमाल की होती।

मूर्ति की स्वीकृति धार्मिकता की बाल्य अवस्था तक मानकर यौवन आने पर अस्वीकृति पर आ जाते तो शायद विरोध के स्वर न पनपते। मूर्ति समर्थकों ने इसे आजीवन छाती से चिपकाए रखा तो विरोधियों ने इसकी उत्पत्ति उपस्थिति मात्र को घातक मान लिया। फिर सूक्ष्म-2 घटनाओं को लेकर प्रत्येक क्रिया को अधार्मिक बता दिया। ये सब कुछ उन लोगों की कृपा से हुआ है जिन्होंने भ. महावीर के अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को व्यवहार में लाने से गुरेज किया। जैनों की चारों शाखाओं की मान्यताएं इतनी विरोधिनी नहीं हैं कि उनको सुलझाया न जा सके। लेकिन पुराने विरोध तो कम हो नहीं रहे उल्टे एक शाखा में नए-2 विरोध और पनपने लगे हैं। हर धर्मसंघ सरल बाल मनों में अनुदारता के विष बीज बोने में लगा हुआ है। कट्टरता के नाम पर भिन्न संघ को Degrade करने की कोशिश चल रही है। नुकसान समाज की एकता का, प्रतिष्ठा का हो रहा है। और गुरुओं को अंधभक्त मिल रहे हैं। अच्छा होता कि सभी जैन अनेकान्त को आधार बनाकर अपने

---

1 केवल ज्ञानी भोजन करते हैं या नहीं ये मानना

अन्तर्कलहों को सुलझा लेते। जैसे कि सम्वत्सरी महापर्व वैषम्य का कारण बन रहा है। इसे उदारता से समेट लेने में बुद्धिमत्ता भी है, जिनशासन सेवा भी। भ. महावीर ने कहा था कि गुड़ का स्वाद मीठा भी है तो तीखा कड़वा कषैला खट्टा मीठा भी। उसमें एक स्वाद है व्यवहार नयसे, उसमें पांच रस हैं निश्चय नयसे। ये दोनों वक्तव्य सही हैं अनेकान्तवाद के अनुसार। भ्रमर का रंग काला है और उसका रंग 5 तरह का भी है, व्यवहार और निश्चय से देखें और कहें तो। निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को स्वीकृति देता है अनेकान्तवाद। विश्व की विविधता, जीवन की विचित्रिता का सम्मान अनेकान्तवाद ने किया है। अतः इस अनेकान्त को समझें भी, अपनाएं भी।

7. मन का समाधान : ध्यान

धर्म मानव जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। समस्याओं का जन्म मन में होता है और समाधान भी मन में ही होता है। मन की खोज करने में जिन-2 उपायों ने मानव को मदद दी है, उनमें ध्यान का विशिष्ट स्थान है। यद्यपि आत्म निरीक्षण, आत्मसंशोधन में स्वाध्याय, सेवा, चिन्तन का भी पर्याप्त योगदान होता है, परन्तु ध्यान सबसे अधिक सशक्त साधन है। क्योंकि ध्यान सीधे तौर पर मन की साधना है। भारतवर्ष में प्रायः सभी धर्मपरम्पराओं ने अपनी-2 पूजा पद्धतियों, अनुष्ठानों, तपस्याओं को अपनाकर अन्ततः ध्यान को विकसित किया। वैदिक संस्कृति, जिसे ब्राह्मण संस्कृति भी कहा जाता है, में योगदर्शन ध्यान का सर्वाधिक प्रचारक प्रसारक रहा। योग के आठ अंगों में सातवां स्थान ध्यान का बताकर पतंजलि ने ये जताया है कि समाधि की प्राप्ति ध्यान से ही संभव है।

बौद्ध धर्म में ध्यान का अभ्यास प्राचीन काल से चलता रहा है। कठोर शारीरिक तपस्याओं से आज़िज आकर महात्मा बुद्ध ने मध्यममार्ग अपनाया, अपने भिक्षुओं को शरीर साधना की बजाय मानसिक साधना की ओर उन्मुख किया। इसी दृष्टिकोण के कारण उस धर्म में ध्यान पद्धति का विकास हुआ। वर्तमान युग में बौद्ध ध्यान पद्धतियों की दो प्रमुख विधियां प्रचलित हैं। I विपश्यना II ज़ेन।

जैन धर्म में, प्राचीन काल में ध्यान का अभ्यास हर साधु साध्वी के लिए अनिवार्य था। स्वयं श्रमण भगवान् महावीर ने अपने 12½ वर्षीय साधनाकाल में दीर्घकालीन ध्यान किए। **"अवि झाति से महावीरे"** भ. महावीर प्रायः ध्यानलीन रहते थे। यद्यपि भ. महावीर की तपस्याओं का विस्तृत ब्यौरा ग्रन्थों में उपलब्ध होता है तथा चर्चित भी होता

है। परन्तु भ. महावीर की तपस्या का मूल आधार भी ध्यान ही था। उन्होंने अपने संघस्थ मुनियों की दिनचर्या का निर्धारण करते हुए एक व्यवस्था बना डाली थी कि वे एक प्रहर दिन में तथा एक प्रहर रात में अवश्य ध्यान करेंगे। यह व्यवस्था लम्बे समय तक नहीं चल सकी। आ. भद्रबाहु स्वामी के सम्बन्ध में जैन इतिहासकारों की सर्वसम्मत राय है कि उन्होंने नेपाल में जाकर महाप्राण ध्यान साधना की थी। उन्हीं के जिनकल्प आराधक चार मुनियों का चित्रण करती हुई कथा है कि घोर सर्दी में उन्होंने अलग-2 स्थानों पर ध्यान किया और सर्दी की अधिकता के कारण रात के अलग-2 प्रहर में उनका देहावसान हो गया। उनके पास ध्यान की पराकाष्ठा इस सीमा तक उपलब्ध थी कि उनके मन को वह सर्दी विचलित नहीं कर सकी। शरीर प्रभावित हुआ पर मन नहीं। गजसुकमाल मुनि के सिर पर रखे गए अंगारे, भ. महावीर के कानों में डाली गई तीखी घास (कील) के प्रसंग भी इसी तथ्य को उजागर करते हैं कि उन महापुरुषों ने ध्यान का सर्वोच्च शिखर छू लिया था।

भ. महावीर प्रभु के सम्बन्ध में आचारांग, प्रथम श्रुत स्कन्ध के "उपधान" अध्ययन में सूचित किया है कि वे कभी-2 अपने समक्ष किसी दीवार या वस्तु पर अपने नेत्रों को केन्द्रित कर आन्तरिक ध्यान में चले जाते थे। उस समय उनके नेत्रों की मुद्रा ऐसी हो जाती थी कि उन्हें देखकर कुछ दुर्बलचित्त के बालक तो भयभीत होकर रोने लग जाते थे। उनकी नेत्र मुद्रा को ध्यान विशेषज्ञों ने त्राटक नाम दिया है।

जैन साधना पद्धति में धीरे-2 ध्यान न्यून होने लगा, उसकी जगह स्वाध्याय, तपस्या, धर्मप्रचार ने ले ली। फिर भी ध्यान का प्रवाह पूर्णतः बन्द नहीं हुआ। आ. जिनभद्र ने 'ध्यान शतक' जैसे कई महान् ग्रंथ लिखकर इस परम्परा को जीवित रखा। आ. हरिभद्र ने 'ध्यान बिन्दु' की रचना की तथा आ. हेमचन्द्रजी ने 'योगशास्त्र' के माध्यम से उसी क्रम को आगे बढ़ाया। दिगम्बराचार्य शुभ चन्द्र जी ने 'ज्ञानार्णव' में ध्यान को नई दिशा, नई शब्दावली प्रदान की। सबसे मूलभूत सामग्री

तो आगमों में सुरक्षित रही। जो हर अग्रिम व्यवस्था का Bed Rock बनकर ध्यान के अस्तित्त्व को कायम रखे हुए है।

ध्यान की पूर्वभूमिका के रूप में या ध्यान के ही लघु संस्करण के रूप में कायोत्सर्ग का प्रचलन जैन संघ में रहा है। कायोत्सर्ग में मुख्यता शारीरिक चेष्टाओं के नियंत्रण की होती है। तथा ध्यान में मानसिक विचारों के निरोध की होती है। यद्यपि कायोत्सर्ग के आगार सूत्र के अंत में कायिक स्थिरता, वाचिक मौन तथा मानसिक ध्यान ये तीन उद्देश्य वर्णित किए हैं पर कायोत्सर्ग शब्द से कायचेष्टा निरोध का भाव अधिक झलकता है। छः आवश्यकों में पांचवें स्थान पर कायोत्सर्ग आता है तथा 12 भेदी तपों में 11वां तप ध्यान है। इस तथ्य पर गौर करें तो प्रतीत होता है कि कायोत्सर्ग संयम का अंग है और ध्यान तप का अंग है। कायोत्सर्ग का ध्येय प्रायश्चित शुद्धि है। दिन भर में जो-2 संयम विघातक कार्य हुए हैं, उन-2 दोषों की शुद्धि के लिए संक्षिप्त और तात्कालिक प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग द्वारा संपन्न होता है तथा विस्तृत और दीर्घकालीन प्रायश्चित्त प्रत्याख्यान के जरिए होता है। जबकि ध्यान का ध्येय मानसिक चंचलताओं को रोकना होता है। ये ठीक है कि कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान का अभ्यास शीघ्र हो सकता है, पर जैन आगमों में ध्यान के लिए शारीरिक निश्चलता, स्थिरता अनिवार्य शर्त नहीं है। ध्यान खड़े-2 बैठे-2 लेटे-2 चलते-2 और तो और नाचते-2 भी हो सकता है। शर्त ये है कि मन स्थिर हो जाए तथा आंतरिक वृत्तियों का शोधन हो जाए।

आगमों में तथा आगमाधारित ग्रंथों में 'ध्यान' शब्द से विचारातीत अवस्था का आभास नहीं मिलता। वहाँ ध्यान विचारों के केन्द्रीकरण को कहा है। दूसरे शब्दों में जब एक विचार एक ही विषय पर अटक जाए, तब ध्यान घटित हो जाता है। एक ही ख्याल जब मन को अपनी ओर खींच ले, इधर उधर न जाए, अगर जाए भी तो पुनः उसी मुद्दे पर लौट आए, मन की उस अवस्था को ध्यान समझना चाहिए। चूंकि मन

इन्द्रिय-विषयों, राग द्वेषादि भावों में चिरकाल से आकर्षित होता आया है, तथा जीवन में अनेक बार मन की ऐसी अवस्था भी बन जाती है कि मन उन वैषयिक मुद्दों में से किसी एक मुद्दे से टस से मस नहीं होता, उस समय वह मन 'ध्यान' में चला जाता है। केवल जैनागमों में ही विषयासक्त द्वेषदग्ध मन को भी ध्यानस्थ स्वीकारा है। प्रभु भक्ति में लीन मन को तो सभी धर्मग्रन्थ ध्यानस्थ मानते आए हैं। ये केवल जैनों की विशेषता रही है कि उन्होंने पाप में लीन, दुष्टता कुटिलता में स्थिर मन को भी ध्यानस्थ कह दिया। कारण स्पष्ट है कि उनकी ध्यान की परिभाषा है- **"उत्तम संहननस्यैकाग्रचिंता निरोधो ध्यानम्"** शरीरिक सुदृढ़ता संपन्न व्यक्ति जब किसी विषय पर अपने चिन्तन को एकाग्र भाव पूर्वक निरुद्ध कर देता है, तब ध्यान घटित हो जाता है। वह एकाग्रता अधिक से अधिक एक मुहूर्त-48 मिनट तक ही सध सकती है। उससे अधिक नहीं। एक मुहूर्त के पश्चात् मन अवश्य ही विषयान्तर में चला जाता है। विषयान्तर में जाना, घूमते रहना विचार कहलाता है। एक जगह टिके रहना ध्यान होता है। ध्यान के समय ही अधिक कर्मबन्धन या कर्मक्षय हो सकता है। जबकि विचारदशा में न अधिक कर्मबन्ध होता है और न अधिक कर्मक्षय। कर्मबन्ध करने वाले अशुभध्यान की भी दो Stages हैं तथा कर्मक्षय करने वाले शुभ ध्यान की भी दो Stages हैं। पहली Stage सामान्य शुभता और सामान्य अशुभता की है तो दूसरी Stage में शुभता और अशुभता गहन और ठोस हो जाती है। अशुभता की पहली Stage का नाम आर्तध्यान है तथा दूसरी Stage का नाम रौद्रध्यान है। इसी तरह शुभता की पहली अवस्था धर्म ध्यान है तो दूसरी अवस्था शुक्ल ध्यान है।

यह जीवात्मा अनादिकाल से अशुभ विचारों में या अशुभ ध्यानों में घूमता रहा है। उसके लिए अन्य कोई द्वार ही नहीं खुला अतः वह धार्मिक विचारों में; शुभ ध्यानों में; प्रवेश ही नहीं कर पाया है। अर्थात् वह अध्यात्म के अंतरिक्ष में विहार करने में इसीलिए असमर्थ रहा है

क्योंकि उसने अशुभता की Gravitational Force को तोड़ा ही नहीं है। जैन आगमों में इन चारों प्रकार के ध्यानों का विस्तृत विवेचन मिलता है। चूंकि आगमकारों का मुख्य लक्ष्य शुभ ध्यान रहा है अतः धर्म और शुक्ल ध्यान को लेकर 16-16 बिन्दु बनाकर व्यापकता प्रदान की है। जबकि आर्त और रौद्र ध्यान की चर्चा करते हुए 8-8 बिन्दु ही निर्मित किए है। हाँ, उन 8-8 बिन्दुओं में पहले 4-4 बिन्दु इतने गहन हैं कि उन्हें छोड़ना ही मानव जीवन की सबसे बड़ी चुनौती प्रतीत होती है। आर्तध्यान के उन चार बिन्दुओं की प्रस्तुति करने से पूर्व ये समझ लें कि आर्त शब्द का अर्थ होता है दुःखी तथा आर्तध्यान का अर्थ है दुःख में डूबे हुए मन की तड़पन। चार अवस्थाओं में मन खिन्न, उद्विग्न, ग्लान, पीड़ित और दुःखी होता है। I पहली अवस्था है– प्रतिकूल शब्दादि विषयों की प्राप्ति होने पर एकदम मन का उखड़ जाना, असहनशीलता, अस्वीकृति और Reactionary Mode में आ जाना। जीवन की विचित्र विडम्बना है कि मन तो चाहता है कि मुझे अनुकूल ही शब्द सुनने को मिलें, सब ओर से प्रशंसा हो, वातावरण में हर व्यक्ति मेरे आदेश पर स्वीकृति की मोहर लगाए, मनभाती खबरें ही सुनने को मिलें। मगर सृष्टि मन के प्रतिकूल ही सामग्री जुटाती रहती है। भिन्न-2 दिशाओं से विरोध, असहमति, निन्दा के स्वर कानों में पड़ते रहते हैं और मानव मन की समाधि शांति भंग हो जाती है। यह समाधिभंग ही मन को देर तक व्याकुल करता रहे तो आर्तध्यान। यदि स्वल्पकाल तक अपना प्रभाव बनाए रखे तो आर्त विचार है। मानसिक खिन्नता का एकमात्र कारण शब्द ही तो नहीं है, शक्ल, सूरत, चेहरे, आकार प्रकार भी आंखों के माध्यम से मन के संतुलन को उखाड़ते रहते हैं। मानव का मन कुछ निश्चित प्रकार के सांचे अपने लिए निश्चित कर लेता है। उससे भिन्न और विपरीत सांचे दिखाई दे जाएं तो उलट पुलट हो जाता है। और विश्व रंगमंच पर अक्सर ऐसे विरोधी सांचे अधिक मात्रा में तैयार मिलते हैं, मन पसन्द कम। किसी भी पारिवारिक सदस्य की आंखों का अंदाज, Body Language की तब्दीलियाँ देख-2 कर मन

कोफ्त होने लगता है। जिन पर मानव ने हजारों अहसान किए है, उनका मुंह मोड़कर चले जाना मन को बेचैन बना देता है। जिनसे मन जुड़ा हुआ है ऐसे पितृजन, पत्नी आदि को घर के किसी सदस्य द्वारा प्रताडित अपमानित होते देखना तथा स्वयं कुछ प्रतिकार न कर पाने की विवशता मन के रेशे-2 को विषाक्त कर देती है। जगतीचक्र को असहाय नेत्रों से देखना आर्तध्यान की खेती को बो देता है। श्रोत्र और नेत्र इन इन्द्रियों के विषय, जो कि काम कहलाते हैं, सीधे तौर पर मानसिक शोक, पीड़ा को उत्पन्न करते हैं तो घ्राण रसना एवं स्पर्श, इन तीन इन्द्रियों के विषय, जो कि भोग कहे जाते हैं, शारीरिक व्याकुलता को उत्पन्न करते-2 मानसिक व्याकुलता को जन्म देते हैं। इनकी प्रतिकूल उपलब्धियां भी कमोवेश निर्बाध रूप से होती रहती हैं और मन आर्तध्यान की ओर अग्रसर होता रहता है। अमनोज्ञ गंध नथुनों को, नर्वस सिस्टम को उद्वेलित करके मन को बेचैन बना देता है। अप्रिय भोजन तो सदाकाल से विवाद, विषाद, फिसाद का जनक रहा ही है। परिवारों में प्रायः सामूहिक भोजन-व्यंजन बनते हैं और स्वादों की Preference सबकी अलग-2। इसलिए अधिकांश अवसरों पर मनुष्य मन को मारता रहता है— मरता हुआ मन आर्त हो जाता है। रुग्णता आदि की स्थिति में रसना के विरुद्ध भोज्य सामग्री खाना लाचारी होती है, वह लाचारी रोज-2 होने लगे तो आर्तध्यान बन जाती है। विश्व में इतनी संपन्नता विकसित नहीं हुई है कि प्रत्येक मानव को अनुकूल स्वाद वाली वस्तुएं हर बार उपलब्ध हो सकें। मानव को अप्रिय या कम प्रिय वस्तुओं का स्वाद लेना ही पड़ता है और मन प्रतिकूल प्रतिक्रिया करती ही है, वही प्रतिक्रिया लम्बी होते-2 आर्तध्यान बन जाती है। स्पर्शनेन्द्रिय के सम्पर्क में आने वाले ठण्डे गर्म, कोमल कठोर, रूखे चिकने, हल्के भारी पदार्थ एक बिन्दु पर पहुंचकर शरीर को असाता देने लगते हैं और तुरन्त मन भी छटपटाने लगता है। उस समय मन की एक ही Demand होती है कि ये पदार्थ यहाँ से हट जाए। लेकिन मन के सोचने मात्र से प्रकृति नहीं बदलती और शरीर को उन थपेड़ों का

प्रहार निरन्तर झेलना पड़ता है। मई जून में 40-50 डिग्री सैल्सियस तापमान में आग उगलती लूएं तन के रोएं-2 को तो झुलसाती ही हैं साथ ही मन की समता को अस्तव्यस्त कर देती हैं। अभावग्रस्त मजूदरों को ऐसी लूओं में काम करना मजबूरी है पर मन दुःखी और आर्त तो होता ही है। धर्म साधना के पथ पर चलने वाले साधकों को जब गर्म सड़कों, पत्थरों, रेत पर नंगे पैर चलना पड़ता है, तब मानसिक समाधि को बचा पाना एक चुनौती बन जाता है। सर्दी के मौसम में भी ऐसी परिस्थितियां बनती हैं, जब सांए-2 करती शीत लहरें हड्डियों को ठिठुरा देती हैं और मन बरबस बेचैन हो जाता है। अपनी स्वीकृत साधना से पलायन करने की सोच तक मन बना लेता है। बस एक ही रट मन की हो जाती है कि इस मुसीबत का निराकरण कैसे हो? कंकर पत्थर बहुल पगडण्डियों पर नंगे पैरों सफर करते समय भी मन की पुकार संकट से बचने की होती है। ये विषयों की प्रतिकूलताएं तो आर्तध्यान बनाती ही है, साथ ही प्रतिकूल पत्नी, पति, पुत्र, शिष्य, गुरूभ्राता, सम्बन्धियों के साथ रहने को मजबूर हुए मानवों की मानसिकता बहुधा चिन्ता, Tension और कुण्ठा से घिरी रहती है। ऐसे में तो शेष शारीरिक ऐन्द्रियिक अनुकूलताएं भी मन को राहत नहीं दे पाती। गहन अवसाद मन पर छाया रहता है। मन एक ही प्रार्थना करता है— हे भगवान्! ऐसी स्थितियों से मुझे छुटकारा दिला दे और दोबारा जिन्दगी में ऐसे दिन कभी देखने को न मिलें। ऐसी अवसाद पूर्ण सभी स्थितियों में उलझे मन की अवस्था को **"अमनोज्ञ संयोग में वियोग स्मरण"** कहा गया है। जो कि आर्तध्यान का प्रथम भेद है। मन को खेद खिन्न करने वाला दूसरा तत्त्व **वेदना** पीड़ा या रोग है। रोग की स्थिति में शरीर तो निढाल हो ही जाता है, मन भी दुर्बल, चिडचिड़ा, असहिष्णु और उदास हो जाता है। एक गहरी Negativity चेतना को घेर लेती है। सब कुछ बुरा-2 नजर आता है। रोग के दौरान कार्य क्षमता तो घट जाती है, पर निर्भरता भी सघन होती जाती है। अपने पर अविश्वास होते-2 दूसरों के प्रति भी नाराजगी बनने लगती है। रोग की अवधि लम्बी होने लगे तो

जीने की भावना भी क्षीण होने लगती है। उपचार में बढते हुए खर्चों से अर्थव्यवस्था चरमराने लगती है तो फोड़े पर फुन्सी। यदि रोग Painless हो तो सह्य हो जाता है पर रोग के साथ पीड़ा और दर्द होने लगे तो मन तो रोता ही है तन को भी रुला देता है। पीड़ा के समय मानव को अपनी संपन्नता भी काटने को आती है। कर्ण प्रिय संगीत, सुन्दर चेहरे, मनोरम स्वादिष्ट भोजन, सुगन्धित पान मसाले, मुलायम गद्दे भी सान्त्वना नहीं दे पाते। उस वक्त तो एक ही तड़प होती है कि किसी तरह इस पीड़ा से निज़ात मिल जाए। धर्मानुष्ठान, स्वाध्याय, चिन्तन, तपस्याएं सब बेमानी और अनावश्यक लगने लगती हैं। मन की उस अवसादपूर्ण अवस्था को **'वेदना'** नामक आर्तध्यान कहा जाता है। जो कि आर्तध्यान का द्वितीय भेद है। यद्यपि प्रथम भेद में भी अनिष्ट निवृत्ति को प्रमुखता दी जाती है और द्वितीय में भी। पर द्वितीय स्थिति ज्यादा बेचैनी का कारण बनती है, इसलिए अधिक तीव्र है। यद्यपि रोग सर्वकाल में मानव समाज को अभिशप्त करते रहे हैं, परन्तु वर्तमान युग में कैंसर जैसे असाध्य रोगों ने इस आर्तध्यान का दायरा ज्यादा ही बढ़ा दिया है। Life Style बिमारियां तो नूतन युग की ही देन हैं। आश्चर्य की बात ये कि Life Style बदला नहीं जा रहा, बिमारियां बर्दाश्त नहीं हो पा रही। विज्ञान की नूतनतम खोजों के बाबजूद रोग और पीड़ाओं के दौर पर ब्रेक नहीं लग पा रहा तथा आर्त ध्यान की तीव्रता घट नहीं पा रही। रोग पीड़ा ऐसा तत्त्व है जो न जीवन कहा जा सकता, न मृत्यु। बस हताशा, निराशा, अपने पर आक्रोश, समाज सृष्टि के प्रति क्षोभ– यही बच जाता है। इस प्रतिकूलता से बचने की मानसिक वृत्ति को आर्तध्यान समझें। विविध वेदनाओं में से भूख प्यास की वेदना सर्वोपरि है। इस वेदना का निराकरण न हो तब तक प्राण खतरे में पड़ जाते हैं और एक भीषण व्याकुलता मन को घेर लेती है। ऐसी स्थिति में स्वीकृत नियम और मर्यादाओं के प्रति आस्था विलुप्त होने लगती है। बस एक मात्र दरकार होती है भोजन और पानी। न मिले तो आर्तता और बेचैनी। आर्तध्यान के ये दो कारण मन

के विरुद्ध होने वाले संयोगों से हैं। अगले दो कारण मन के अनुकूल होने वाले संयोग हैं। अनुकूल संयोग यद्यपि मन को सुहाते हैं और मानसिक शान्ति को उखाड़ते भी नहीं हैं, पर अनुकूल संयोग मिलकर बिछड़ न जाएं ऐसी एक असुरक्षा की भावना तो मन को समय-2 पर घेरती ही रहती है। दूसरी बात, अनुकूल संयोग, जो अपने पास है। उनसे अधिक कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर, श्रवणगोचर हो जाएं तो उन संयोगों को हथियाने की तीव्र लालसा मन पर छा जाती है। यदि लालसा सामान्य स्तर की है तो वह विचार और इच्छा होती है। यदि गहरी और लम्बी हो जाती है तो आर्तध्यान होती है। उस आर्तध्यानमय लालसा का स्वरूप फिर Negative हो जाता है। फिर अपनी उपलब्धियां विचार से बाहर चली जाती हैं तथा अनुपलब्धियां ही विचार जगत् को जकड़ लेती हैं। **"जो न मिल पाए वही; करता है मन को दुःखी"** ख्वाहिशों की दौड़ प्रारम्भ हो जाती है और चिन्ताओं का बोझ बढ़ता जाता है। **"कब किसकी आशाओं ने संसार बसाया है, जिसको देखा उसको हमने रोता पाया है ॥"** यों तो अनुकूल (मनोज्ञ) संयोगों की तमन्ना बहुत प्रकार की हो सकती है पर तीन चार बिन्दु इस विषय को स्पष्ट कर सकते हैं। I धन की कामना II प्रशंसा की लालसा III पद अधिकार की इच्छा IV सम्बन्धों की चाहत। सामान्यतः प्रत्येक मानव की धारणा है कि धन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जाए तो अन्य सभी अनुकूलताएं उसके जरिए प्राप्त की जा सकती हैं। इसी कारण मानव मन का सर्वाधिक झुकाव प्राप्त धन की सुरक्षा तथा अप्राप्त धन के अर्जन की ओर बना रहता है। दिन के चौबीस घण्टों में से जागृत अवस्था के 70-80 प्रतिशत समय में मन धन-केन्द्रित होता है। वर्तमान समय में आय के जितने स्रोत हैं, उन्हें तो सुरक्षित रखना ही है उन्हें विस्तृत भी बनाना है। अपनी बौद्धिक शारीरिक क्षमताओं का सर्वाधिक उपयोग वह धनार्जन के लिए करता है। यदि स्वल्प सी आशंका हो जाए कि वर्तमान आय सिकुड़ने वाली है, मन तुरन्त तड़प जाता है। उसका चैन और आराम छिन जाता है और आर्तध्यान का कब्जा मन पर हो जाता

है। जिन मनुष्यों के ऊपर ऋण चढ़ जाता है और अदायगी की संभावनाएं बन्द हो जाती हैं, उनकी मनोव्यथा मापनी कठिन हो जाती है। यही मनोव्यथा आर्तध्यान है।

(2) प्रसिद्धि प्रशंसा की लालसा विद्वानों, कलाकारों, संन्यासियों, प्रचारकों, त्यागी तपस्वियों में बराबर पाई जाती है। उनका मन प्रशंसा प्राप्ति की योजनाएं बुनता रहता है। अपनी तुलना में किसी अन्य को आगे देख लेता है तो मन ईर्ष्या, प्रतिशोध तक में झुलसने लगता है। जिस व्यक्ति विशेष से सम्मान प्राप्ति नहीं होती, उसके प्रति विरोध का भाव प्रगाढ़ होने लगता है।

(3) कुछ व्यक्तियों को अधिकार, सत्ता का आकर्षण लुभाने लगता है। उसकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की दौड़ धूप करते हैं। ऐसे मानवों के लिए राजनीति का क्षेत्र सर्वाधिक प्रिय होता है। पहले वो पद अधिकार पाने के लिए संघर्ष करते हैं फिर उन्हें बचाने के लिए। फिर उस लक्ष्य प्राप्ति में बाधक तत्त्वों को मिटाने के लिए उधेड़ बुन शुरू करते हैं। आर्तध्यान में लगा उस व्यक्ति का मन आर्तध्यान तक रुक जाए ये भी गनीमत है। वर्ना आर्त को रौद्र रूप धारण करने में देर नहीं लगती।

(4) रही बात सम्बन्धों की। माता पिता अनुकूल मिलें ये तो किसी की इच्छाओं के अधीन नहीं है। वे तो जैसे भी मिलते हैं, उन्हें श्रेष्ठ मानना अच्छा भी है, मजबूरी भी है। हाँ, जीवनसाथी के लिए मानव मन बहुत संवेदन-शील होता है। मन की हजार कोशिश ये होती हैं कि मुझे मनपसन्द साथी मिले। यदि किसी व्यक्ति ने किसी को अपनी चाहत का केन्द्र बना लिया तो उसे पाने के लिए उसका मन व्यग्र हो जाता है। यदि उसकी चाहत का सामने से सम्मान नहीं होता तो निराशा और उद्विग्नता। यदि उधर से स्वीकृति हो जाए पर परिवार, समाज की ओर

से रुकावट आने लगे उस समय मन की स्थिति तीव्र आर्त ध्यानमय हो जाती है।

पुत्र, पुत्रवधू, जामाता तथा अन्य सम्बन्धी अच्छे मिलें, ये सोच भी मन में बसी रहती है। अनुकूल गुरु, शिष्य, भ्राता मिले ये ख्याल त्यागी संयमी वर्ग में आता रहता है– ख्याल लम्बा हो जाए तो आर्तध्यान, स्वल्पकाल तक रहे तो विचार मात्र।

पूर्वोक्त तीन प्रकार के आर्तध्यान बहुलतया सांसारिक लोगों के मनों को उद्वेलित करते हैं। परन्तु अगला चौथा आर्तध्यान धर्मक्रियाओं में निरत, त्यागतप से जीवन यात्रा संपन्न करने वाले संत महात्माओं या श्रावकों को पीड़ित करता है। इसको **निदान** कहा जाता है। अर्थात् अगले जन्म में, भिन्न लोक में सुखों की लालसा रखना। वैसे तो निदान भी इष्ट संयोगों की प्राप्ति के लिए किया गया मानसिक प्रयास ही है अतः यह तीसरे आर्तध्यान के रूप में लिया जा सकता है। पर दोनों में अंतर है। तीसरे आर्तध्यान में वर्तमान जीवन में, इस लोक में अभीष्ट वस्तुओं की चाह की जाती है, जबकि चौथे **'निदान'** आर्तध्यान में जन्मान्तर में, सृष्टि के किसी अन्य छोर पर अभीष्ट वस्तुओं की लालसा समाविष्ट हुई है। इस ध्यान के दौरान ध्याता को केवल अगला जन्म दिखाई पड़ता है। स्वर्गों के हसीन नजारे इस तरह के धार्मिक लोग देखा करते हैं। इस जन्म के अप्राप्त सुखों या परित्यक्त सुखों के ऐवज में वे अगले जन्म में सुखों के सपने पालते हैं। यहां दाने-2 को मोहताज रहे लोग अगले जन्मों में चक्रवर्ती बनने का भाव बनाते हैं। उस भविष्योन्मुखी इच्छा-वितान को आर्तध्यान न कहें तो क्या कहें? आर्तध्यान को केवल भौतिकतावादी, विलासिताप्रिय लोगों तक सीमित न समझें। वे तो आर्तध्यान करते ही हैं– सम्यक्त्व गुण संपन्न, श्रावक व्रतों के पालक गृहस्थ लोग भी आर्तध्यान से ग्रस्त हो जाते हैं। यहीं तक नहीं, साधुजीवन व्यतीत करने वाले मुनिराज भी कभी-2 किसी कारण विशेष से आर्तध्यान में आ जाते हैं। हाँ, उस अवस्था में वे

साधक अप्रमत्तता के स्तर से गिरकर प्रमत्त बन जाते हैं। बाह्य पुद्गलों की अभिलाषा आत्मस्वरूप से दूर ले जाती है। और अपने से दूर जाना ही प्रमाद है। यह प्रमाद सघन और दीर्घकालीन होते-2 आर्तध्यान बन जाता है।

आर्तध्यान के परिणामस्वरूप मानव मन का स्वभाव भी बिगड़ जाता है, व्यवहार भी बदल जाता है। आत्म नियंत्रण टूट जाता है। चेहरे पर मायूसी आ जाती है, हर ओर अंधकार नजर आने लगता है। कोई व्यक्ति या परिस्थिति अच्छी नहीं लगती। असुरक्षा और भय भावना तन और मन को कुन्द करने लगती है। आंखों से अश्रुधारा बहने लगती है, कभी-2 सिसकियां, आहें और कराहें अनियंत्रित रूप से होने लगती हैं। वातावरण से पलायन करने की उतावली बनने लगती है। ये सब लक्षण हैं आर्तध्यान के। जो सूचना देते हैं कि उक्त मानव मन कितनी देर से भीतरी आंदोलन से गुजर चुका है और उसका वेग तीव्र हो गया तो शरीर पर उसके Symptoms उभर आए हैं।

आर्तध्यान की धारा पतली न पड़े, न मुड़े तो रौद्रध्यान का रूप भी ले सकती है। रौद्रध्यान में मानव मन स्वयं को यंत्रणा देते-2 समाज और संसार को भी यंत्रणाओं का शिकार बनाने की विचार धारा बना लेता है। उसे लगता है कि मेंरे शोक और पीड़ाओं का कारण मैं नहीं, अन्य व्यक्ति हैं, समाज और स्थितियां हैं, अतः इनको सजा दूं। उस व्यक्ति की मनोवृत्ति में कृष्ण नील और कपोत लेश्याएं अतिसंक्लिष्ट हो जाती हैं। यद्यपि पहले आर्तध्यान में भी लेश्याएं तो तीनों अशुभ ही होती हैं पर उस समय संक्लेश की मात्रा प्रगाढ़ नहीं होती, पतली होती है। रौद्रध्यान हर प्राचीन मानसिकता को कठोर और निकृष्ट बना देता है। ऐसे मानव का Attitude Hyper Aggressive और Over Possessive बन जाता है। मन निरन्तर क्रूरता, कुटिलता और आधिकारिकता के विचारों का संचय करता रहता है। उसे एक तरह से पापों में रस आने लगता है। ऐसे रौद्र ध्यान को चार तरह से समझाया

गया है– I हिंसानुबन्धी, II असत्यानुबन्धी, III चौर्यानुबन्धी, IV विषय संरक्षणानुबन्धी।

I **हिंसानुबन्धी रौद्रध्यानः** जब मानव मन अपनी परेशानियों का कारण अन्य को मान लेता है, तब अन्य को सबक सिखाने की भावना में आ जाता है। यदि वह शक्तिसंपन्न है तो अपने से दुर्बलतर को सताने, मारने, जलाने, लाचार करने की मानसिक योजना बनाता है और उसका वश चले तो वैसा करने पर उतारू भी हो जाता है। यदि अपने इरादों को पूरा न भी कर पाए तो भी मानसिक क्रूरता तो उसमें कायम रहती ही है। वह क्रूरता मिनट, दस मिनट आदि तक बढ़ती-2 अंतर्मुहूर्त तक बनी रहे तो भीषण नरकगति के कर्मों का अर्जन भी कर लेती है। ऐसे रौद्रध्यानी मानव ही संसार में युद्ध, आतंकवाद, शोषण, अत्याचार, जुल्मोसितम की भूमिका तैयार करते हैं और कभी-2 आत्मघात भी कर लेते हैं। हिंसा का अनुबन्ध-नैरन्तर्य (Continuity) बनाने वाला ध्यान हिंसानुबंधी है। ऐसा मन हिंसा को रोकने की नहीं, जारी रखने की योजना बनाता है। वह पुरानी गांठ को खोलने की बजाय नई से नई गांठें बांधता जाता है।

II **असत्यानुबन्धी रौद्रध्यान** वाला मन हिंसा की बजाय झूठ की गांठें पक्की करता जाता है। निन्दा, चुगली, मिथ्यारोप, कुटिलतापूर्ण भाषा बोलने में माहिर, ऐसे मानवों को झूठ में रस आने लगता है। प्रवञ्चना, जोड़ तोड़, मायापूर्ण व्यवहार उसका जीवन पाथेय बन जाता है। ऐसे जीव की लेश्याएं कृष्ण, नील, कपोत तो होती ही हैं, साथ ही अतिसंक्लिष्ट, बेहद मैली भी।

III **चौर्यानुबन्धी रौद्रध्यानः** जो क्रूरता और कुटिलता के संगम बन जाते हैं, ऐसे मानव चोरी, डकैती, छीना-झपटी, लूटखसौट में विशेष रुचि लेते हैं। किसी व्यक्ति विशेष की या सार्वजनिक संपत्ति पर अवैधानिक तरीके से कब्जा करने की साजिश रचने वाला मन रौद्रध्यान में जी

रहा होता है। वह एक बार असफल होने पर भी अपनी योजनाओं को विराम नहीं देकर और बारीकी से, प्रच्छन्न ढंग से उनमें फंसता जाता है। सफल हो जाए तो उसका हौंसला और खुल जाता है। फिर तो एक के बाद दूसरे षड्यन्त्र की रचनाओं में डूब जाता है। उसको इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि इस प्रकार की वृत्ति-प्रवृत्ति से समाज और राष्ट्र पर क्या दुष्भ्राव पडेगा अथवा मेरा अपना अन्तर्जीवन कितना घिनौना बन जाएगा।

IV **विषय संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान** में मानसिक गृद्धि की प्रगाढता बन जाती है। विषयासक्ति, द्रव्यासक्ति, धनासक्ति इतनी अधिक कि इनके अतिरिक्त संसार के सद्गुण, संबन्ध, शान्ति, स्वास्थ्य सब कुछ विस्मृत हो जाते हैं। उसके मन में आशंका बनी रहती है कि कहीं कोई मेरी अधिकृत वस्तुओं पर कब्जा न कर ले। मेरे सिवा कोई अन्य इनका उपयोग भी न करे, निकट से निकट स्वजन भी नहीं। वस्तुतः उस मन में स्वजनता का भाव जन्म ही नहीं लेता। धन को सर्वकार्य साधक मानता हुआ उसकी सुरक्षा के लिए व्यग्र, व्याकुल रहता है। राग, द्वेष, मोह की आकुलता, अधिकता के कारण उसका वर्तमान काल भी नरक रूप हो जाता है तथा भावी जीवन भी। रौद्र ध्यान की अवस्था में मानव मन दूसरे की पीड़ाओं को देख आनंदित होता है। किसी कार्य को करते हुए किसी की हानि की परवाह नहीं करता। बाह्य साधनों के प्रयोग में नैतिकता नहीं रखता, बड़े से बड़ा अपराध करके भी आनन्द मानता है। ऐसे रौद्रध्यानी को तीव्र क्रोध बना रहता है, वह भी दीर्घकाल तक। कभी-2 मृत्युपर्यन्त भी। हर व्यक्ति से द्वेष– किसी से भी अपनापन नहीं। निष्कारण द्वेष– ये रौद्रध्यान रत मन की पहचान करवाने वाले चिह्न हैं, लक्षण हैं।

आर्त और रौद्र इन दो मानसिक भावों की चर्चा तो जैनागमों में प्रसंगवश की है, अन्यथा उनका ध्येय तो मानव मन के प्रशस्तीकरण का रहा है। लेकिन Positive को समझने से पूर्व Negative की समझ

भी जरूरी है। ईलाज प्रारम्भ करने से पूर्व बिमारी का ज्ञान भी जरूरी है तो प्रशस्त ध्यानों की ओर बढ़ने से पूर्व ये जान लेना भी अत्यन्त जरूरी है कि क्यों ये मन शुद्धि की ओर अग्रसर नहीं हो रहा। सैंकड़ों प्रयत्न करने के बावजूद मन सीधे सादे सच्चे मार्ग पर गतिशील नहीं होता। कारण स्पष्ट है कि उसकी समग्र ऊर्जा का व्यय कभी पहले तो कभी दूसरे ध्यान में हो जाता है। इस मन को इन्हीं में जीवनसार उपलब्ध होता दिखाई देता है। इनसे ऊपर उठने की इच्छा ही नहीं होती। कभी-कभी उकता कर वह मन इनसे हटाने की सोच भी लेता है पर धर्म के, आत्मशान्ति के भव्य प्रासाद में प्रवेश करने का प्रयास नहीं करता। ज्यादा से ज्यादा द्वार खटखटाने का साहस जुटाने में भी अपना सर्वाधिक पौरुष मान लेता है। आर्त रौद्र ध्यानों की पकड़ ही इतनी ज्यादा है कि मन इनकी गिरफ्त से नहीं निकल पाता। लेकिन जिन महान् आत्माओं ने इस दुष्चक्र को तोड़ा है तथा मन को ऊंचे आदर्श प्रदान किए हैं उन्होंने अपनी साधना के सार के रूप में ध्यान का मार्ग समाज को दिया। उन्हीं ध्यानों के दो रूप हैं– दो नाम हैं– धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान।

मनुष्य को ये धारणा प्रारम्भ से ही छोड़ देनी चाहिए कि मन को एकाग्र नहीं किया जा सकता। मन एकाग्र होता है। आप अपने अतीत में झांककर देखिए कि अपका मन भी बहुधा एकाग्र हुआ है, भले ही उसकी एकाग्रता धर्म विषयक न होकर संसार विषयक ही थी। ये मानकर चलें कि मानव मन की एकाग्रता को साधना नितान्त असंभव नहीं है। जब आप किसी सीरियल, चलचित्र, क्रिकेट आदि के मैच देख रहे होते हो, कोई बालक खिलौनों से खेल रहा होता है, कोई चित्रकार अपनी चित्ररचना में निमग्न होता है, संगीतकार गायन में लीन होता हैं तब प्राप्त होने वाली एकाग्रता को मन ने प्रायः हासिल कर लिया होता है। अन्तर यही है कि वह एकाग्रता धर्मध्यान न होकर आर्तध्यान होती है। क्योंकि उस एकाग्रता से मन के विकार दूर होने के बजाय

बढ़ जाते हैं। जिस एकाग्रता से आत्मा मलिनता की ओर जाए वह एकाग्रता अशुभ ध्यान तथा जिस एकाग्रता से आत्मा निर्मल बन जाए वह एकाग्रता शुभ ध्यान है। चूंकि अध्यात्म वादियों का ध्येय आत्मशुद्धि रहा है इसलिए उन्होंने धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। पतञ्जलि ने तो आठ योगाङ्गों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि में ध्यान का शुभपक्ष ही मान्य किया है। अशुभ ध्यान को मान्यता ही नहीं दी। जैन पद्धति में अशुभ शुभ को स्वीकृत करते हुए भी अधिक विस्तार शुभ को ही दिया है। शुभ ध्यानों के भी दो Grades हैं– I धर्म ध्यान, II शुक्ल ध्यान। इनमें शुक्ल ध्यान की अवस्था इस युग में अशक्यता की सीमा में जा चुकी है। अतः उस ध्यान की बारीकी को समझना और समझाना भी बेहद मुश्किल कार्य है। पर धर्म ध्यान सर्वकाल में सर्वजन के लिए शक्य भी है, उपयोगी भी है। अतः सर्वाधिक विस्तृत विवेचन धर्मध्यान का ही हुआ है। धर्म ध्यान का उत्कर्ष पाने के लिए किस-2 भावना की आवश्यकता है, कौन सा स्थान, समय, शारीरिक मुद्रा (आसन, Posture) आवश्यक है, धर्मध्यान को आलम्बन देने वाला तत्त्व कौन सा है, किस क्रम से ध्यान करना चाहिए, ध्यान का ध्येय (Target) क्या बनना चाहिए आदि अनेक विषय ध्यान के सम्बन्ध में वर्णित किए जाते है। सर्वप्रथम दो बातें समझनी हैं– I जितना सरल मन को इन्द्रिय विषयों में एकाग्र करना है, उतना सरल धार्मिक विषयों में एकाग्र करना नहीं है। अतः धर्मध्यान के लिए अनेक विध शर्तें बताई गई हैं। II धार्मिक विचार, धार्मिक क्रिया और धर्मध्यान में मौलिक अंतर ये है– धार्मिक विचार कुछ सैकेन्ड़ और मिनटों तक रहकर गुम हो जाता है तथा धार्मिक क्रिया वह अच्छा अनुष्ठान है जिसमें कभी विचार प्रविष्ट हो जाते हैं तो कभी विचार विदा भी हो जाते हैं पर धर्म ध्यान में विचार की सघनता, एकाग्रता के साथ-2 दीर्घ कालिकता भी आती है, एवं अनुष्ठान तपोमय हो जाता है।

12 प्रकार के तपों में 6 प्रकार के तप शरीर साधना प्रधान होते हैं तथा छह प्रकार के तप मानसिक साधनारूप होते हैं। बाह्य तप जीवन के उन दोषों का उपचार करते हैं जो दोष शारीरिक रसायनों (Physical Chemicals - Harmones) के उद्‌भव या असंतुलन के कारण पैदा होते हैं तथा आभ्यन्तर तप उन दोषों का उपचार करते हैं जो मन की विकृति के कारण उद्‌भूत होते हैं। ध्यान आभ्यन्तर तप है जो सीधे तौर पर मन के दोषों का निराकरण करता है। मानसिक दोषों को विजित करना मानव मात्र के लिए एक चुनौती रही है और ध्यान उस चुनौती का सामना करने वाला सशक्त हथियार है। इस हथियार का प्रयोग करने वालों को जो-2 मूलभूत तैयारियां करनी होती हैं, उनमें से पहली तैयारी चार भावनाओं की परिपक्वता है। धर्मध्यान में प्रवेश करने के इच्छुक व्यक्ति को **ज्ञान**, **दर्शन**, **चारित्र** और **वैराग्य** इन चार भावनाओं को प्रगाढ बनाना होता है, तभी वह आगे बढ़ने की सोच सकता है। ज्ञान का दीर्घकाल तक अभ्यास करने से साधक पहले तो मन के भटकाव को रोकता है, फिर मानसिक शुद्धि प्राप्त करता है, फिर वह सुनिश्चल बुद्धि का अधिकारी बनता है। दर्शन भावना का अभ्यासी शंका; कांक्षा आदि सम्यक्त्व-दोषों से मुक्त हो जाता है। जब जीवन में प्रशम, संवेग, स्थिरता प्रगट होने लगते हैं तो साधक ध्यानावस्था में होने वाली मूढताओं से बचा रहता है। चारित्र भावना से भावित मन अपने अंदर किसी नए विकार (कर्म) को पनपने नहीं देता। पुराने विकारों (कर्मों) को कम करने लगता है तथा शुभ आचरण (आदतों) को विकसित करने लगता है। वैराग्य-भावना-संपन्न मन संसार के स्वभाव को समझकर उससे आसक्ति घटा देता है। वह हर व्यक्ति से अपेक्षाएं छोड़ देता है और उसे किसी भी स्थिति में असुरक्षा की भावना (भय) नहीं सताती। जिस साधक ने इन चार भावनाओं का गहरा अभ्यास कर लिया हो, उसे ही ध्यान की ओर अपने कदम बढ़ाने चाहिए। इन भावनाओं के सुदीर्घ अभ्यास के बिना ध्यान करने की पूर्वाचार्यों ने अनुमति नहीं दी है। जिस प्रकार धर्मध्यान के लिए चार भावनाओं का प्रगाढ अभ्यास

आवश्यक है, इसी प्रकार धर्मध्यान के लिए उचित स्थान की तलाश भी आवश्यक है। आर्त-रौद्रध्यान तो कहीं भी, कभी भी घटित हो जाते हैं, पर धर्म ध्यान के लिए तो एकान्त स्थान चाहिए ही। प्रारम्भिक साधकों के लिए स्थान चयन एक मजबूरी है। हाँ, जब धर्मध्यान का अभ्यास परिपक्व हो जाता है फिर तो कहीं भी, कभी भी ध्यान घटित हो सकता है। स्थान के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों का कथन है कि वह स्थान स्त्री, पशु, नपुंसक तथा कुशीलवर्धक तत्त्वों से रहित हो क्योंकि इनकी उपस्थिति में ध्यान भंग होने की अधिक संभावना है। प्रयास ये होना चाहिए कि ध्यान के लिए चुनी हुई जगह में बाहर का कोई भी व्यक्ति न हो। हाँ, जिन साधकों के योग स्थिर हो गए हों और जिनका मन निश्चल हो गया हो उनके लिए गांव शहर, जंगल, भीड़ कोई महत्त्व नहीं रखते। ध्यान के सम्बन्ध में स्थान का महत्त्व है भी और नहीं भी है। यदि किसी का मन बाह्य निमित्तों से अधिक प्रभावित होता है तो उसे उन विक्षेपकारक निमित्तों से रहित स्थान को चुनना चाहिए। यदि किसी का मन प्रभावित नहीं होता या कम प्रभावित होता है तो उसे स्थान विशेष को चुनने की जरूरत नहीं है। यही बात ध्यान के लिए आसन और मुद्रा (Posture) की है। सर्वाधिक प्रचलित ध्यान-मुद्रा है पद्मासन में बैठकर अंक में दोनों करतल ऊपर नीचे रखकर नासाग्र पर दृष्टि को टिकाना। लेकिन इस पर भी जैनाचार्य आग्रहशील (Rigid) नहीं हैं। उन्होंने निर्णय दिया है कि शरीर की जो अवस्था साधक के मन को एकाग्र करने में उपयोगी लगे, उसे ही अपना लिया जाए। खड़े होने, बैठने, लेटने तक की छूट है। प्रतिबन्ध किसी प्रकार का नहीं है। उनका तर्क है कि पूर्वकाल में सभी स्थितियों में जीवों ने केवल ज्ञान पाया था। खड़े-2 केवली बने तो, बैठे-2 भी बने। लेटे-2 तो केवली बने ही हैं, चलते-2 भी केवल ज्ञान प्रकट हुआ है। जब केवल ज्ञान जैसी उपलब्धि में आसनों का प्रतिबन्ध नहीं रहा तो ध्यान में कैसे माना जा सकता है। दूसरा कारण ये भी है कि ध्यान परम्पराओं के अनेक प्रवर्तक हुए और प्रायः सभी ने अलग-2 आसनों का निरूपण कर दिया। कहीं

आसनों के चयन में ही ध्यानाभ्यासी विभ्रम-ग्रस्त (Confused) न हो जाएं, अतः जैनाचार्यों ने आसन के मुद्दे पर पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी। यही सिद्धान्त ध्यान के समय को लेकर है। ध्यान का उपयुक्ततम समय ब्रह्ममूहूर्त (अमृतवेला) होता है। ऐसी लोक मान्यता है। पर आगमों में तो दिन और रात के दूसरे प्रहर को ध्यान के लिए निर्धारित कर दिया। धीरे-2 उसमें भी आजादी दे दी। जब जिसके लिए अनुकूल हो, वही समय ध्यान का उपयुक्त समय है।

ध्यान में निरन्तर अग्रसर होने के लिए जो तत्त्व सहायक हो सकते हैं, उनका वर्णन मूल आगमों में भी मिलता है, पश्चाद्वर्ती साहित्य में भी। उन सहायक तत्त्वों को **आलम्बन** नाम दिया गया है। आलम्बन शब्द को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने लिखा– जैसे किसी व्यक्ति को किसी विषम स्थान पर चढ़ना हो तो उसे रस्सी का सहारा लेना पड़ता है, इसी प्रकार ध्यान की चोटियों को चूमने के लिए अभ्यासी को जिन-2 सहारों की जरूरत होती है, वे आलम्बन कहलाते हैं।

जैसे आगमों को गुरुमुख से पढ़ना ध्यान में सहायता प्रदान करता है। सर्व प्रथम पठन के पश्चात् जिज्ञासा पूर्ति के लिए पृच्छा करने से मानसिक शंकाओं का निवारण होता है। फलतः ऊर्ध्वारोहण की क्षमता विकसित होने लगती है। ग्रहण किए हुए आगमवचनों की पुनरावृत्ति से श्रद्धा में वृद्धि होती है, तो ध्यान में बलिष्ठता आती है। उन्हीं अधिकृत किए आगमों पर चिन्तन मनन-अनुप्रेक्षा से आत्मानुभव बढ़ता है और ध्यान पुष्ट होता है। इस तरह स्वाध्याय को ध्यान की पूर्व पीठिका के रूप में अनिवार्य माना गया है। ध्यान में प्रवेश के इच्छुक साधक यदि स्वाध्याय की उपेक्षा करते हैं तो वे ध्यान को ही दुर्बल बनाते हैं। ध्यान को अप्रतिपाती बनाने में स्वाध्याय का अहम रोल है। ध्यान के कुछ आधुनिक प्रवर्तकों ने स्वाध्याय का विरोध करके जो गलती की है, वही गलती स्वाध्याय को ही सर्वस्व मानने वाले तथा ध्यान की उपेक्षा करने

वाले विद्वज्जनों ने की है। स्वाध्याय सर्वस्व नहीं है पर व्यर्थ भी नहीं है। स्वाध्याय Support देता है ध्यान को।

अब मुख्य मुद्दा है– ध्यान का विषय। प्रायः ध्यान करने के इच्छुक सभी साधकों का प्रश्न होता है कि हम ध्यान में किस वस्तु का, किस आकार का ध्यान करें तथा भ. महावीर जब साधना करते थे, वे किसका ध्यान करते थे? इसका समाधान करते हुए भगवन्तों ने स्पष्ट किया है कि चार धार्मिक विषय ध्यान के केन्द्र बिन्दु बनाए जाएं तो धर्मध्यान घटित हो सकता है।

I आज्ञा विचय, II अपाय विचय, III विपाक विचय, IV संस्थान विचय। ये चार विषय मानसिक एकाग्रता के लिए अत्यन्त उपयोगी तत्त्व हैं। यहाँ विचय शब्द की स्पष्टता के लिए इसके दो अर्थ कर लें। पहला है– गहन परिचय, दूसरा है चुन-2 कर संचय करना। सामूहिक अर्थ निकलेगा– पहले वीतराग भगवन्तों की आज्ञाओं में से स्वोपयोगी चुनींदा आज्ञाओं को चुन-2 कर अपने स्मृतिकोष में संचय कर लेना। फिर उन संचित आज्ञाओं से इतना अधिक परिचय कर लेना कि प्रतिपल उनका स्मरण बना रहे। भगवान् की विधि और निषेध रूप (Do's and Don'ts) आज्ञाओं का इतना गहन अभ्यास हो जाना चाहिए कि जीवन के उत्थान पतन के विषम प्रसंगों पर जब-2 आर्तध्यान की शुरुआत होने लगे, तभी वे आज्ञाएं स्वतः मस्तिष्क में कौंधने लगे और आपकी चेतना को झिंझोड़ना शुरु कर दें तथा आपको स्पष्ट बता दें कि इस समय तेरे लिए क्या करना है तथा क्या नहीं करना। उन आज्ञाओं की उपेक्षा, उल्लंघन करने का साहस मन कर ही न पाए और कुछ देर तक वे आज्ञाएं ही जहन पर हावी हो जाएं तो समझ लेना कि आज्ञाविचय धर्मध्यान घटित हो गया। शायद किसी को ये प्रतीत हो कि ध्यान में तो किसी आकार, वस्तु या बिन्दु पर दृष्टि को केन्द्रित करना होता है और आज्ञा विचय धर्मध्यान में ऐसा कुछ नहीं किया गया– फिर इसे ध्यान क्यों कहा जाए? इस प्रश्न का उत्तर है कि मन को आर्त्त और

रौद्र ध्यान से हटाकर, बचाकर कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का बोध-अहसास कराने वाला प्रत्येक उपाय ही धर्मध्यान है। आंखें बन्द कर लेना या ऊर्जा को एक दिशा गामी बना देना ध्यान है तो ये भी ध्यान ही है। मानव चेतना को भगवान् के शब्द शुभता की ओर लम्बे समय तक चलाते रहें, ये धर्मध्यान ही है। बौद्धों की विपश्यना ध्यान पद्धति में सति (स्मृति) का जो स्थान है वही जैन ध्यान पद्धति में विचय का स्थान है। कोई विषय साधक की स्मृति से ओझल न हो पाए, यही सति है, यही विचय है। वहाँ भी चार प्रकार की सतियां हैं, यहाँ भी चार प्रकार के विचय हैं।

धर्मध्यान के दूसरे चरण में साधक एकान्त में बैठकर अपने चित्त पर उन-2 कारणों, निमित्तों, वातावरणों, व्यवस्थाओं और विचारों का संकलन, आकलन करना प्रारम्भ करे, जिनके दबाव में उसका मन अपने आध्यात्मिक लक्ष्य से दूर भटक जाता है। ये अपाय विचय है। साध्य की सिद्धि में सहायक तत्त्व उपाय होते हैं और बाधक तत्त्व अपाय होते है।

उपैति लक्ष्यं प्रति साधकः येन सः उपायः।
अपैति लक्ष्यात् दूरं येन सः अपायः ॥

जिस साधन से साधक ध्येय की ओर बढ़े वह साधन उपाय है। वह साधन, जिससे दूर जाए वह अपाय है। अपने अपायों से विचय (परिचय) करते-2 साधक उस मुकाम पर पहुंच जाता है, जब उसे अपने अन्तर्मन के प्रत्येक तल पर बसे उन-2 दुर्गुणों की पहचान हो जाती है, जिन्होंने उसे अब तक के जीवन काल में आत्म-ध्येय से भटकाया है। एक बार उन अपायों की सच्ची व गहरी पहचान हो जाए तो साधक को उनको दूर करने की कला भी अधिगत हो जाती है। पुनः-2 होने वाले मानसिक भटकाव का, समय-2 पर उठने वाले अन्तर् आन्दोलनों का सिलसिला रुक जाता है और आत्मा शान्ति और विश्वास की छत्रछाया में निश्चिन्त हो जाती है। रागद्वेष की लहरें उठनी बंद हो जाती हैं, इस लोक, परलोक को विकृत करने वाली क्रियाएं, आस्रव थम जाते हैं।

ध्यान का तृतीय बिन्दु विपाक विचय है। कर्म फल की गहन पहचान करना विपाक विचय है। ध्यानावस्था में स्थिर होकर साधक को इस विषय पर इतना स्पष्ट हो जाना है कि भविष्य में किसी भी अनुकूल प्रतिकूल घटना पर विपाक विचय साधक का मार्गदर्शक बन जाए। उसे अन्दर ही अन्दर ये पहचानना है कि आज मैं जो कुछ भी हूँ, वह अपने ही अतीत कर्मों के परिणाम स्वरूप हूँ। सुखी दुःखी, अच्छा बुरा, स्वस्थ रुग्ण, प्रतिष्ठित निन्दित, ज्ञानी या मूर्ख सारा वैविध्य मेरे कर्मों, कामों, क्रियाओं का प्रतिबिम्ब है, विपाक है। अब वह उस पहचान के दौरान एक-2 पहलू का विश्लेषण भी करता है कि कौन सा फल मैं इसी जिंदगी के अच्छे बुरे कार्यों की वजह से भोग रहा हूँ, और किस उपलब्धि अनुपलब्धि में पिछले जन्मों का योगदान है। उस ध्याता की विपाक विषयक पहचान (विचय) तब तक अधूरी अस्पष्ट एवं मिथ्या कहलाएगी, जब तक वह वर्तमान जन्म और पूर्व जन्म के कर्मों का पार्थक्य नहीं कर लेता। प्रत्येक घटना के लिए पूर्व जन्म के अदृश्य कर्मों को जिम्मेदार मानना और कहना विपाक विचय धर्मध्यान का अपलाप है। तथा प्रत्येक घटना के लिए वर्तमान जीवन के पात्रों को जिम्मेदार ठहराना भी धर्मध्यान न होकर आर्तध्यान है। विपाक विचय धर्मध्यान का गहन अभ्यासी शिकायतों की भाषा से आजाद हो जाता है, तथा उन गल्तियों की पुनरावृत्तियों से बच जाता है, जिन गल्तियों ने वर्तमान क्षणों को विषाक्त बना दिया है। विपश्यना में शारीरिक अवयवों की स्थूल सूक्ष्म संवदेनाओं का गहन अनुभव करना वेदना स्मृति है। ध्यानविदों ने वेदना स्मृति और 'विपाक विचय' को समान माना है।

धर्मध्यान का चतुर्थ विषय संस्थान है। सृष्टि के सभी द्रव्यों का आकार, अवगाहना, लक्षण तथा पर्यायें अनन्त हैं। उनमें से अपने लिए उपयोगी और सरल प्रतीत होने वाले कुछ द्रव्यों के संस्थानों से पहले इतना अधिक परिचित हो जाना चाहिए कि जैसे ही साधक ध्यान मुद्रा में बैठे, तुरन्त वह संस्थान उसके स्मृति पटल पर Display होना

शुरु हो जाए। फिर उस संस्थान पर अपनी चेतना को एकाग्र करने में अपनी जीवन ऊर्जा लगा देनी है। आज्ञा, अपाय, विपाक विचयों में साधक बहुलता से अपने जीवन में झांकने का प्रयास करता रहा है। अतः उसके कुछ-2 Subjective होने की संभावना बाकी थी, लेकिन संस्थान विचय धर्मध्यान में वह पूर्णतः Objective हो जाता है। अपने से, अपनी रुचि अरुचि से, अपने रागद्वेषादि से सर्वथा मुक्त हो जाता है। संस्थान विचय धर्मध्यान के लिए जैन शास्त्रों में सर्वाधिक उपयोग लोक-संस्थान का किया है। लोक संस्थान की विशेषता ये है कि जैन धर्मानुसार मानव शरीर का संस्थान तथा लोक का संस्थान एक सरीखा है। जैसा मानव शरीर वैसा लोक, जैसा लोक वैसा मानव शरीर। मानव के संस्थान को Macro-Dimension में ढाल दें तो लोक बन जाता है। लोक संस्थान को Micro-Dimension दे दें तो मानव शरीर बन जाता है। मानव अपने शरीर के प्रत्येक अवयव को ध्यान का केन्द्र बनाए या सम्पूर्ण लोक को, दोनों ही ढंग से संस्थान विचय धर्मध्यान बनेगा। मानव अपने पैर के तलुए, पंजे, अंगुलियों, पिण्डली, घुटने से लेकर मस्तक तक प्रत्येक Body Part को अपनी मानसिक शक्ति का केन्द्र बनाता है तो उसके शरीर का प्रत्येक सुप्त अंग जागृत हो उठता है। अंगों के बन्द स्रोत खुलने लगते हैं तो धीरे-2 पूरे शरीर में रक्त प्रवाह का लयबद्ध संचार होने लगता है। इस पद्धति से कभी-2 कुछ अवरोध दूर हो जाते हैं और रोगवर्धक Toxin बाहर निकल जाते हैं। शरीर संस्थान ध्यान बढते-2 इतनी सक्रियता शरीर में भर देता है कि पूरे शरीर में एक विद्युत्धारा Electric Current का सर्किट बहने लगता है। इस तरह धर्मध्यान अपने आप में Electrifying Effect देने लगता है।

यदि आगमों की शैली का अनुसरण करते हैं तो लगता है कि वहाँ 24 दण्डकों का आश्रय लेकर सम्पूर्ण लोक का ध्यान करवाने की प्रणाली अपनाई जाती थी। आधुनिक भूगोल खगोल को भुलाकर जब हम आगमों में वर्णित भूगोल खगोल का नक्शा बना लें तभी लोक

संस्थान का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है। पहले लोक को तीन भागों में विभाजित कर लें— अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक। फिर अधोलोक का सात पृथ्वियों में विभाजन करें। सातों पृथ्वियों की व्यवस्था का सांगोपांग नक्शा बना लें। घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश का कितना-2 परिणाम है। इन तथ्यों को स्मृतिगत करना भी जरूरी है। साथ ही पृथ्वियों की मोटाई, चौड़ाई, पाथडे, आंतरों की संख्या को भी याद कर लें। पहली पृथ्वी में जिन-2 पाथड़ों में भवनपति देवता रहते हैं, उनका स्पष्ट बोध भी आवश्यक है। अधोलोक का समग्र चित्र बन जाए तो मध्यलोक में आएं। सुमेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से 900 योजन नीचे और 900 योजन ऊपर मध्य लोक है। मध्यलोक में जम्बूद्वीप, लवण सागर, धातकी खण्ड़, कालोदधि, पुष्करद्वीप, फिर सागर, फिर द्वीप... यों करते-2 असंख्य द्वीप और समुद्रों का दोगुना-2 विस्तार करते जाएं, अंत में स्वयंभूरमण-समुद्र का आकार मन में बसा लें। मध्यलोक में ही सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारकों का असंख्य संसार है, ये समझें।

ऊर्ध्वलोक में 26 देवलोक तथा सिद्धशिला और ऊपर लोकान्त है। जब आपको लोक का स्वरूप स्थूल रूप में समझ में आ जाए, तब ध्यान की मुद्रा में बैठकर अधोलोक के सबसे नीचे वाले भाग को अपने मानस पर अंकित करें, फिर उससे ऊपर उठते-2 सातवीं पृथ्वी की परिक्रमा करें। फिर धीरे-2 वहाँ से ऊपर आकर छठी, पांचवी, चौथी, तीसरी, दूसरी और प्रथम पृथ्वी को Visualise करें। यह आपका लोक संस्थान धर्मध्यान प्रारम्भ हो गया। फिर आप भवनपति देवों के आवासों में भ्रमण करना प्रारम्भ करें। तदनन्तर पृथ्वी पर आकर द्वीप समुद्रों की धीरे-2 यात्रा करें, उसी क्रम से वापिस लौटें और ऊपर सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारों के तल पर पहुंच जाएं। अब ऊर्ध्वलोक का दर्शन करना है। पहले और दूसरे देवलोकों को मन ही मन देखें। नक्शे के मुताबिक तीसरे, चौथे, पांचवें, यों करते-2 नव ग्रैवेयक तथा अनुत्तर विमानों का मनोमय अवलोकन करें, अंततः सिद्धशिला और लोकान्त पर रुक जाएं। वहाँ

से उल्टी यात्रा प्रारम्भ करके धीरे-2 नीचे उतरते-2 सातवीं नरक के नीचे वाले लोकान्त का अवलोकन करें। यद्यपि इस प्रक्रिया में मन एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा रहा है, अभी Concentrated नहीं हुआ है, पर इस प्रक्रिया का सबसे बड़ा लाभ ये है कि इस समय मन चल तो रहा है पर भटक नहीं रहा। उस मन पर बाहरी शब्दों की, रूपों की और उनसे उत्पन्न होने वाली रागद्वेषादि की मार नहीं पड़ रही। अब मन अवैयक्तिक (Impersonal) धरातल पर जीने लगा है। कुछ दिनों तक लोक संस्थान की Toe to Top और Top To Toe यात्रा करते-2 जब सहजता बनने लगे, फिर लोक के उन-2 भागों में रहने वाले जीवों से आत्मसात् होने का प्रयास करें। सातवीं नरक में असंख्य नारकी हैं, उन सबसे मैं, मेरा मन एकमेक (Identified) हो रहा है। उनकी वेदना मेरे अन्दर उतर रही है। यों ही छठी नरक के नारकियों को आत्मसात् करते-2 पहले नरक तक आना है। पहली पृथ्वी के कुछ आन्तरों में जहाँ भवनपति देवता रहते हैं, उनसे भी अपनी मानसिक आत्मीयता स्थापित करनी है। मध्यलोक में आकर पांच स्थावरों तथा तीन विकलेन्द्रियों के जीवों की अनिदा वेदना को (अस्पष्ट वेदना को) अपने अन्दर उतारना है, मध्यलोक के विस्तृत फलक पर तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों की जिंदगी से स्वयं को जोड़ना है। फिर अढाई द्वीप में विद्यमान मनुष्यों में अपने आंतरिक विस्तार को देखना है। इसी पृथ्वी के अंगभूत व्यन्तर देवों को भी मानसस्तर पर उतारकर चर अचर ज्योतिष देवों को अन्दर ही अन्दर निहारना है। अब आगे बढोगे तो 26 देवलोकों के देवताओं के सुखों का कुछ अंश अपने भीतर भी उतारते जाना है। आहिस्ता-2 जब 26 देवलोकों के देवों से अभेदाध्यास स्थापित हो जाएगा तो लोकान्तवासी निराकार सिद्धों में विलीन होने को मन तैयार हो जाएगा। पहली बार में, सम्पूर्ण लोक का भौगोलिक ध्यान किया था, अब वहां रहने वाले जीवों का ध्यान किया है। तीसरी बारी में नीचे से ऊपर या ऊपर से नीचे आते जाते समय उन-2 स्थानों पर रहने वाले प्राणियों की लेश्याओं को मन में बसाना है। जब यह अभ्यास परिपक्व हो जाए तो उनकी

अवगाहना, योग, उपयोग, आयु अलग-2 द्वारों का आश्रय लेकर प्रत्येक जीव को ध्यान का विषय बनाना है। यों, अधिक नहीं तो कम से कम 26 द्वारों के माध्यम से समग्र लोक संस्थान को ध्यान में लाना है। इस प्रकार 26 दिनों या एक महीने तक लोकसंस्थान धर्मध्यान का अभ्यास किया जाए तो उसके अद्भुत परिणाम आ सकते हैं। संभव है भिन्न-2 स्थानों का ध्यान करते-2 हमारी चेतना का कोई बटन Click कर जाए और वहाँ हमारे द्वारा बिताया गया कोई भव स्मृति में उभर आए। या किसी स्थान को Visualise करते-2 वह स्थान वास्तव में अपना सही आकार हमें Send कर दे और हम यहाँ बैठे-2 उसे देखने लग जाएं। या फिर कोई मानवेतर प्राणी अपना सम्पर्क सूत्र हमें सौंप दे और हमारा उनसे Communication बन जाए। किसी जीव की वेदना या सुखानुभूति का अहसास करके हम अपनी दुःख वेदना को भूल जाएं या सुख पर इतराना बन्द कर दें। लोक संस्थानविचय धर्मध्यान का दायरा अन्तहीन है। भगवती सूत्र में इसकी शतसहस्र विधियां सूचित की गई हैं। इस ध्यान की कृपा से कभी-2 ऐसी समाधि तैयार हो जाती है कि 24 घण्टे तक मन उसी में डूबा रहे और उसे भोजन, पानी, नींद का भान भी न रहे। बाहर के शब्दों, आकारों का प्रवेश बन्द होने से चेतना परम शान्ति को पा सकती है। गांगेय अणगार के भांगे इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि उनका ध्यान किया जाए तो पूरा दिन और रात बीत जाए तो भी उन भांगों से बाहर मन और बुद्धि न निकले। जैसे पांच पदों की आनुपूर्वी को पुस्तक की सहायता के बिना ही बन्द नेत्रों से पढ़ें तो मन का भटकाव काफी रुक जाता है, इसी अभ्यास को आगे बढाते-2 नौ पद की आनुपूर्वी से और अधिक समाधि स्थिति बन जाती है। ऐसे ही 24 दण्डकों की आनुपूर्वी बना ली जाए और उसका अभ्यास करना प्रारम्भ कर दें तो उस ध्यान के दौरान होने वाली एकाग्रता का अनुमान लगाना नामुमकिन है। आओ, ध्यान को प्रारम्भ करें। संस्थान विचय धर्मध्यान का Double effect लाने के लिए तीसरी विधि और विकसित की जा सकती है। साधक अपने शरीर के अंगों में लोक का

संस्थान कल्पित कर ले। यथा– तलुओं और एडी तक कल्पना करे कि ये सातवीं पृथ्वी है। पिण्डली को छठी पृथ्वी, घुटनों को पांचवी, सांथल के निचले भाग में चौथी, ऊपरी भाग में तीसरी, नाभि के अधिक नीचे दूसरी पृथ्वी तथा नाभि के चारों ओर प्रथम पृथ्वी की कल्पना कर ले। फिर उदर, वक्षस्थल, बाजू, हृदय, स्कन्ध तक 12 देवलोकों को Fit कर ले। गर्दन पर नव ग्रैवेयकों का स्थान आता ही है। फिर चेहरे पर चार अनुत्तर विमान, भाल पर सर्वार्थसिद्ध और मस्तिष्क के शिखर भाग पर सिद्धशिला का निर्धारण कर लें। आहिस्ता-2 अंगों का नाम भुला दें और आरोपित लोक को सत्य मानकर उसमें मानसिक विचरण प्रारम्भ कर दें। निरन्तर के अभ्यास के बाद इसका बड़ा सकारात्मक परिणाम आ सकता है। जब मानव शरीर और लोक एकमेक हो जाएंगे तब **'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे'** का साक्षात् अनुभव होने की पूरी संभावना है।

लोकसंस्थान धर्मध्यान करने वाला साधक लोक के अन्तर्गत आत्म तत्त्व को भी अपने ध्यान का विषय बना सकता है। जैसे कि आत्मा अनादि अनन्त है, शरीर से भिन्न है, अरूपी है, स्वकर्मों का कर्ता और उन कर्मों के फल का भोक्ता है। अथवा वह साधक संसार के स्वरूप का ध्यान भी कर सकता है जैसे- इस संसार सागर में जन्म का जल है, कषाय के पाताल है, संकटों के जलजन्तु हैं, मोह का इसमें भंवर है, अज्ञान की हवाएं इसमें संयोग वियोग की लहरें पैदा कर रही हैं, इसको पार करने के लिए संयम की नौका चाहिए, जिसका कर्णधार ज्ञान है।

यही क्यों? लोक के किसी भी पदार्थ को आधार बनाकर ध्यान किया जाए, वही लोकसंस्थान धर्मध्यान बन सकता है। हाँ, आवश्यकता इस बात की है कि इस ओर अग्रसर होने वाला साधक प्रमादमुक्त हो। तथा मोह को उपशान्त या क्षीण करने वाला हो। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार तो सप्तम गुणस्थान से नीचे धर्मध्यान हो ही नहीं सकता। धर्मध्यान में तीन लेश्याएं– तेजो लेश्या, पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्या होती हैं। कभी इन लेश्याओं में शुद्धि मंद हो जाती है तो कभी तीव्र।

धर्मध्यान करने वाले साधक की रुचियों में मूलभूत अंतर आ जाता है। वह प्रायः आगमरुचि संपन्न होता है, उसे सूत्र रुचि भी कह सकते हैं। व्यर्थ विकथाओं में उसे रस नहीं आता। उसकी रुचि उपदेशात्मक होती है अर्थात् वह गुरुभगवन्तों से तत्त्वज्ञान ग्रहण कर तीर्थंकरों के भावों पर गहन श्रद्धा करने लगता है। (2) कोई-2 आत्मा तो निसर्ग रुचियुक्त भी हो जाती है। बिना किसी प्रेरणा या उपदेश के स्वभावतः अपने अन्तर्मन से वह भगवान् के वचनों के प्रति श्रद्धालु हो जाता है (3) आज्ञा रुचि संपन्नता भी किसी-2 धर्मध्यानी की पहचान बन जाती है। इस रुचि वाला साधक बड़ों की, छोटों की आज्ञा मानने को उद्यत रहता है। आज्ञा देने की इच्छा ही उसकी समाप्त हो जाती है। 4 अवगाढ़ रुचिः वह प्रत्येक विषय का अवगाहन करने का अभ्यासी बन जाता है। सतही, छिछली बातों में उसे Interest नहीं आता। वह डूब जाता है अपने गहरे अन्तर्मन में। धर्मध्यान में जो व्यक्ति निमग्न हो जाते हैं, वे प्रायः भगवान् और गुरुओं की स्तुतियां गुनगुनाने लगते हैं। विनय और दान में अग्रसर रहते हैं। श्रुताराधना, शील-पालन और संयम ही उनका साध्य रह जाता है। उनके कण-2 से Positive Vibes निकलनी प्रारम्भ हो जाती हैं। जो आत्माएं समय-2 पर ध्यान मुद्रा में चली जाती हैं, वे ध्यान से बाहर आकर भी अपनी भावधारा को लुप्त नहीं होने देती। उनके मन पर चार तरह के चिन्तन निरन्तर उभरते रहते हैं। उन्हीं भाव धाराओं को चार अनुप्रेक्षाओं के माध्यम से आगमों में स्पष्ट किया है।

I **एकत्वानुप्रेक्षाः** वह साधक प्रायः यही सोचता है कि मैं संसार में अकेला ही आया हूँ और अकेला ही जाऊंगा। संबंध बढाने से द्वन्द्व और कषाय बढ़ती हैं। परिवार, संघ और समाज केवल बाहरी और औपचारिक व्यवस्थाएं है, वास्तव में तो मैं स्वयं ही अपने सुख दुःख का निर्माता हूँ।

II **अनित्यानुप्रेक्षा** का आश्रय लेते हुए वह सोचता है कि दृश्यमान विश्व में कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। उदय के साथ अस्त, सृष्टि के साथ प्रलय, उत्थान के साथ पतन का अविनाभाव है। अतः किसी भी वस्तु से आसक्ति नहीं बनानी।

III **अशरणानुप्रेक्षाः** जीवन में धर्म के अलावा किसी का सहारा नहीं है। मृत्यु, रोग, पीड़ाओं में कोई हिस्सेदार नहीं हो सकता। सबकी अपनी मजबूरियां हैं। सबकी अपनी दिशाएं हैं। अतः नकली सहारों को छोड़ देव, गुरु, धर्म की शरण में जाना ही श्रेयस्कर है।

IV **संसारानुप्रेक्षाः** ये आवागमन ही संसार है। चार गतियों में अनन्त बार जाने के बावजूद आत्मा को लक्ष्य नहीं मिला, शान्ति नहीं मिली। संसार का हर प्राणी दुःखी है। संपत्ति, परिवार हो तो दुःख, न हो तो दुःख। इस प्रकार की चिन्तन धारा धर्मध्यानी साधकों की बनी ही रहती है।

धर्मध्यान की परिपक्वता, प्रगाढता, निरन्तरता के पश्चात् यदि कुछ उच्चकोटि के बाह्य निमित्त भी मिल जाएं तो जीवात्मा शुक्ल ध्यान की परमोपलब्धि से मंडित भी हो सकता है। बाह्य निमित्तों में प्रमुखतम है– वज्र ऋषभ नाराच संहनन और पूर्वों का ज्ञान। धर्मज्ञान के लिए संहनन विशेष की Condition नहीं है। न ही पूर्वज्ञान की। पर शुक्ल ध्यान के लिए इनकी अनिवार्यता स्वीकारी है। कुछ तत्त्वविदों की तो ये भी धारणा है कि यदि कोई आत्मा पूर्वज्ञान युक्त नहीं है पर वज्र ऋषम नाराच संहनन संपन्न है, वह शुक्ल ध्यान के माध्यम के बिना, सीधे धर्मध्यान के बलबूते पर केवल ज्ञान पा लेती है। पर यह धारणा सर्वमान्य नहीं है। कुछ का मानना है कि गजसुकमाल जैसे महान् साधक बिना पूर्वज्ञान के भी शुक्लध्यान में पहुंचकर कैवल्य को उपलब्ध हुए थे।

शुद्ध शुक्ल ध्यान अपनाया था श्री गजसुकमाल मुनीश्वर ने,
दावानल शांत बनाया था श्री गजसुकमाल मुनीश्वर ने ॥

धर्मध्यान एक साधक के जीवन में सैंकड़ों, हजारों बार घटित हो सकता है जबकि शुक्ल ध्यान तो केवल एक बार की ही कहानी है। धर्मध्यान में मन का विषय समग्र लोक होता है, पर शुक्ल ध्यान में उसे समेट कर एक परमाणु पर टिका दिया जाता है। जैसे किसी मनुष्य के शरीर-व्यापी विष को डंक स्थान पर केन्द्रित कर दिया जाए तो उस विष का निष्कासन और समापन सुगम हो जाता है। ऐसे ही एक बिन्दु पर मन आ जाए तो फिर उसकी चंचलता को Neutralize करना आसान हो जाता है। अधिक ईंधन में आग लगी हो तो बुझाना कठिन है पर ईंधन निकाल दिया जाए तो आग मंद हो जाती है। फिर बुझ जाती है, बुझा दी जाती है। यही स्थिति मन की है। शुक्ल ध्यान की यात्रा श्रेणी आरोहण से प्रारम्भ होकर पहले केवल ज्ञान पर रुकती है, फिर सयोगी केवली अवस्था से अयोगी दशा में पहुंच देह मुक्ति भी दिला देती है। शुक्ल ध्यान का विवेचन करने वाले शब्दों का अर्थ इतना कठिन हो चला है कि इसे समझना और समझाना एक पहेली बुझाने जैसा लगता है। इसका प्रमुख कारण ये है कि पंचम काल में शुक्ल ध्यान की साधना संभव नहीं है। इसीलिए जिस किसी लेखक ने इन शब्दों की व्याख्या की, वह अनुभवाधारित न होकर शब्दाधारित, पूर्व धारणाधारित होती गई। तदपि इन शब्दों का आकर्षण इतना अधिक है कि इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। शुक्ल ध्यान के 4 नाम (1) पृथक्त्व वितर्क सविचार (2) एकत्व वितर्क अविचार (3) सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती (4) समुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्ति। पहले और दूसरे शुक्ल ध्यान में श्रुतज्ञान (पूर्वगत या अंगसूत्रगत) का आश्रय लिया जाता है। इसलिए दोनों ध्यानों में वितर्कशब्द प्रयुक्त हुआ है। 'वितर्कः श्रुतम्' वितर्क का अर्थ है- श्रुतज्ञान। अगले दो चरणों में तो केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है। अतः वहाँ वितर्क (श्रुत) की कोई संभावना नहीं रहती। हाँ शुक्लध्यान

की प्रारम्भिक और पूर्ण इन दो अवस्थाओं में कुछ मौलिक अन्तर है। पहला है– भिन्नता और अभिन्नता का तथा दूसरा अन्तर है विचरण का। केन्द्रितता के संक्रमण और असंक्रमण का।

ध्यान के जिस स्तर तक ध्यान करने वाले को ये अहसास रहता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ तथा मैं अपनी चेतना पर समवतरित किसी आकार, शब्द या भाव को देख रहा हूँ, तब-2 ध्याता और ध्येय की भिन्नता बनी रहती है। दोनों का अस्तित्त्व पृथक्-2 रूप में मौजूद रहता है। यह है पृथक्त्व की स्थिति। मगर जैसे-2 वह और गहनता में पहुंच जाता है, उसे अपने अस्तित्त्व का अहसास नहीं रहता, न ही अपने से पृथक् किसी ध्येय का भान भी होता। ध्याता ध्येय, ज्ञाता ज्ञेय का द्वैत दूर हो जाता है, मात्र शेष रह जाता है ध्यान। ध्याता भी लुप्त तथा ध्येय भी लुप्त। उस ध्यान का द्योतक शब्द है एकत्व या अद्वैत– Singularity. ध्याता ध्येय जब तक पृथक् बने रहेंगे, तब तक मन को Shift होने का Chance है। मन के अलावा वचन और काया की Viberations (स्पन्दनों) के लिए Scope बाकी रहता है। परन्तु ध्याता ध्येय का पार्थक्य समाप्त होते ही सारी हलचलें रुक जाती हैं। वह अवस्था होती है अविचार की। शत प्रतिशत ठहराव की– Stability की। वहाँ शब्द और अर्थ का पार्थक्य नष्ट हो जाता है। मन वचन काया की हलचलों की भिन्नता भी गुम हो जाती है। अतः संक्रमण हीन वह स्थिति है अविचार रूप। इस तरह पृथक्त्व वितर्क सविचार रूप ध्यान का प्रथम चरण एकत्व वितर्क अविचार में बदलकर मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय करके केवल ज्ञान में परिणत हो जाता है।

यदि 14 गुणस्थानों के क्रम के साथ शुक्ल ध्यान का तालमेल बैठाया जाए तो प्रतीत होता है कि निवृत्ति बादर संपराय आठवें गुणस्थान में पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान घटित होता है तथा अनिवृत्ति बादर संपराय, सूक्ष्म संपराय, क्षीण मोहनीय इन गुणस्थानों में शुक्ल ध्यान एकत्व वितर्क अविचार स्तर पर चालू रहता है। यद्यपि गुणस्थान के

थोकड़े में कुछ मतभिन्नता हो सकती है पर थोकड़े को पुष्ट करने वाला कोई आगम पाठ नहीं है अतः प्रस्तुत चिन्तन को भी स्वीकृत किया जा सकता है।

यदि कोई साधक उपशम श्रेणि के सहारे गुणस्थानारोहण कर रहा हो तो उसकी अपेक्षा ये कहा जा सकता है कि उसने आठवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान का पहला स्तर स्पृष्ट किया है तथा नौवें, दसवें तथा 11वें गुणस्थानों में उसने द्वितीय स्तर का आनन्द लिया है। और बाद में पहले स्तर पर आ गया।

शुक्ल ध्यान के इन दोनों रूपों को और अधिक स्पष्टता से समझें तो जीवात्मा अपने प्रयास से शुक्ल ध्यान की प्रथम भूमिका में प्रवेश करता है। दूसरी भूमिका तो स्वतः ही निर्मित होती है। उसके लिए किसी प्रकार का प्रयास कारगर नहीं होता। क्योंकि प्रयास करना भी अपने अस्तित्त्व की सूचना देना है और जब तक इस अस्तित्त्व की सूचना के संकेत मिलते हैं, तब तक एकत्व, अद्वैत (Non Duality) का मुकाम हासिल नहीं होता।

शुक्ल ध्यान के इन दो भेदों में एक उलझी गुत्थी योगों से संबंधित है। आगमों में तथा तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है कि शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद तक तीनों योग होते हैं। द्वितीय भेद में तीन में से कोई एक योग होता है। तीसरे भेद में केवल काय योग होता है। तथा चौथे भेद में योगों का सर्वथा अभाव (अयोग) होता है। इन चारों में से भी पहले तीसरे और चौथे इस तरह तीन भेदों में योगों को समझना सरल है। क्योंकि पृथक्त्व वितर्क सविचार में साधक के तीनों योग सक्रिय रहते हैं। यद्यपि प्रमुखता मनोयोग की रहती है पर मन अपनी स्थिरता और शक्ति साधते-2 वचन योग तथा काययोग को Activate कर देता है। तथा एक योग का दूसरे योग में संक्रमण-चंक्रमण हो जाता है। तीसरा भेद उस समय घटित होता है जब केवली भगवान् के मन वचन के स्थूल

सूक्ष्म योग तो निरुद्ध हो ही जाते हैं, काय का स्थूल योग-स्पन्दन भी बन्द हो जाता है। केवल सूक्ष्म काययोग शेष रहता हो तब इस ध्यान के बलबूते पर उस योग को भी रोका जाता है। चौथा भेद चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान में होता है। अतः वह अयोगावस्था भी सरलतया समझ आ सकती है। परन्तु शुक्ल ध्यान के दूसरे चरण में मन वचन काय इन तीन योगों में से किसी एक योग के होने को लेकर शंका हो सकती है। लिखा है कि वहाँ अकेला मनोयोग भी हो सकता है, अकेला वचन योग भी हो सकता है, या अकेला काययोग भी हो सकता है। दो या तीन योगों की तो संभावना ही नहीं रहती। वहाँ एकत्व की अवस्था जो है। पर ध्यानावस्था में मन रुक जाए और केवल वचन रह जाए या केवल काया रह जाए, ऐसा कैसे संभव है? इस संशय का निवारण करने के लिए कुछ जैनेतर ध्यान पद्धतियों और जैन कथा साहित्य से सहायता मिल सकती है।

सामान्यतः ध्यान के सम्बन्ध में ये ही सोचा जाता है कि ये मन की साधना है और मन का ही इसमें सर्वाधिक रोल है। और इसीलिए जब कोई साधक शुक्ल ध्यान में प्रवेश करता है, तब वह अपने मन को ही सशक्त बनाता जाता है, एकाग्र करता जाता है। परन्तु यहाँ ये भी विचारना जरूरी है कि उस अवस्था में वह किस विधि से उतर रहा है। क्या चिंतन का– अनुप्रेक्षा का– अवलम्बन लेकर ध्यान में प्रविष्ट हुआ है या जप का, या संगीत का आश्रय लेकर इस दिशा में अग्रसर हुआ है अथवा वह तपस्या, सेवा, नृत्य आदि के माध्यम से ध्यान की साधना करने चला है। जैन धर्म ने आत्मकल्याण, केवल ज्ञान या मुक्ति की केवल एक ही विधि नहीं बताई। कोई साधक अपनी मानसिकता, बौद्धिकता के अुनरूप किसी भी विधि को अपना सकता है। और उस विधि से आत्मोत्थान कर सकता है।

जो साधक बौद्धिकता के विशिष्ट स्तर पर जीता रहा है, वह स्वाध्याय का अवलम्ब लेकर आगे बढ़ता है और उसी ढंग से अपने

मन की एकाग्रता को साध लेता है। किन्तु जो साधक भावुक प्रकृति का है या भद्रस्वभाव संपन्न है, वह जाप का सहारा ले लेता है। जब जाप के शब्दों का निरन्तर उच्चारण करते-2 वह साधक तीव्र ध्वनि की Peak पर पहुंच जाता है, तब उसका स्वरतंत्र तो सक्रिय हो जाता है पर मनोविचार गुम हो जाते है। शरीर भी लगभग स्पन्दनहीन हो जाता है। यदि वह ओम् ओम् इस ध्वनि का ऊंचे स्वरों में कई घण्टे तक उच्चारण करता जाए, तो एक स्थिति ऐसी आ सकती है कि बिना किसी प्रयास के शब्द स्वतः प्रवाहित होते जाएंगे, और उसकी समग्र चेतना को ध्वनि ही लपेट लेगी। मन और तन की उपस्थिति आत्मा के लिए अनुपयोगी हो जाएगी। वह एकत्व अविचार की अवस्था वचन योग संपन्न कहलाएगी, न कि मनोयोग संपन्न या काययोग संपन्न। ओम् शब्द की जगह अन्य नमो, अर्हम् आदि शब्दों का सहारा लिया जाए तो भी यही Result आएगा। जाप के अतिरिक्त जो साधक भक्ति संगीत के माध्यम से अपने आराध्य की उपासना करते हैं, वे भी किसी न किसी क्षण में आराधक-आराध्य के द्वैत-पृथक्त्व से ऊपर उठकर मात्र शब्दमय संगीतमय रह जाते हैं। उनका भी शुक्लध्यान के द्वितीय चरण पर वचनयोग अवशिष्ट रह जाता है। किसी भक्त का चित्रण करने वाला दोहा इस तथ्य को प्रामाणिकता प्रदान कर रहा है।

अंखडियां झांई पड़ी पंथ निहार निहार।
जीभडियां छाला पड़ा राम पुकार पुकार ॥

राम शब्द का इतना लम्बा और गहरा उच्चारण करना कि स्वरतंत्र में उष्णता बन जाए और जीभ पर छाले पड़ जाएं, यह एक Extreme किस्म की भक्ति में ही संभव है। आदमी बेसुध होकर बोलता जाए, बोलता जाए और उसकी कोशिश, इच्छा भी बन्द हो जाए पर बोलना फिर भी चालू रहे तो नौवां गुणस्थान किंवा एकत्व अविचार बन जाए और रह जाए एक वचन योग।

वचन योग की भांति ही अकेला काययोग बच जाए, इसकी भी पूरी संभावना है। जैसे कोई साधक ध्यानारूढ होते समय कायोत्सर्ग की साधना में अपना मन लगाने लगा, श्वास साधना करने लगा, काया के अंगों की सूक्ष्म स्थूल गतिविधियों को निहारने लगा और आगे बढ़ते-2 मन तो निश्चल और विश्रान्त हो गया और मात्र काया के स्पन्दन (योग) शेष रह गए अथवा नंदीषेण जैसा कोई सेवाव्रती साधक सेवा में इतना तल्लीन हो गया कि उसका समग्र शरीर ही सेवामय हो गया। वाणी और मन उसके गुम हो गए। पहले तो उसने सेवा का प्रयास किया, लेकिन एक Point पर पहुंचकर प्रयास छूट गया और सेवा रह गई, उससे एकत्व अविचार में पहुंचा फिर केवली बन गया। सेवा करते-2 केवलज्ञान पाने की धारणा जैन धर्म में है। कैवल्य की ये अवस्था इस प्रक्रिया के बाद ही उपलब्ध होगी।

जैन कथा साहित्य में एक प्रसंग आता है कि इलायची पुत्र को बांस पर नृत्य करते-2 केवल ज्ञान हुआ। यदि उस घटना का ध्यानावलंबी विश्लेषण किया जाए तो ये फलितार्थ निकल सकता है कि नृत्य करते-2 वह उस शिखर पर पहुंच गया, जब उसका मनोतंत्र बन्द हो गया, शब्द लुप्त हो गए और मात्र रह गया नृत्यलीन देह। उस नर्तन में एक योग केवल काया का ही घटित हो सकता है। यदि उसके कैवल्य को उसकी भावनाओं से जोड़ने का प्रयास किया जाएगा तो प्रश्न उपस्थित होगा कि उस साधक के शुक्ल ध्यान के द्वितीय चरण के समय कौन सा एक योग था? मनोयोग अकेला तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका शरीर पूरी तरह नृत्य में तरंगित था। तो काययोग का निषेध तो हो ही नहीं सकता है और यदि काययोग है तो मनोयोग वचनयोग का अभाव भी मानना ही पडेगा। क्योंकि उस अवस्था में केवल एक योग ही संभव है। दो, तीन नहीं। जैनेतर सम्प्रदायों में कुछेक ने ये भी स्वीकारा है कि नृत्य भी आत्मोत्थान कर्मक्षय की एक पद्धति है। उस पद्धति का अनुसरण करने वाले साधक साधिकाओं में से कोई एक गुणस्थान-श्रेणि

चढते-2 केवली बन जाए, इसमें कोई बाधा नहीं है। अन्यलिङ्ग सिद्ध होना विशुद्ध जैन धारणा है और आगम सम्मत है।

इस तरह के उदार दृष्टि कोण के बिना ध्यान की मूल धारणाओं को सिद्ध करना असंभव हो जाएगा।

शुक्ल ध्यान के तृतीय और चतुर्थ चरणों की प्राप्ति पूर्ववर्ती चरणों से बिल्कुल भिन्न धरातल की होती है। पहले दो चरणों में आत्मा छद्मस्थ होती है, जबकि पिछले दो चरणों में आत्मा सर्वज्ञ होती है। पहले दो चरणों में मानसिक एकाग्रता की प्रमुखता होती है, जबकि अन्तिम दो चरणों में मानसिक एकाग्रता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। मन की अनियंत्रित हलचलें होती तो केवल ज्ञान ही संभव नहीं था। वह आत्मा केवल ज्ञान पा चुकी है तो मन को एकाग्र करने की अब आवश्यकता ही नहीं रही। केवलियों के पास यद्यपि मन होता है, पर वह द्रव्य मन होता है। उसका उपयोग भी वे यदा कदा ही करते हैं। किसी अनुत्तर विमानवासी देव की जिज्ञासापूर्ति या किसी मनःपर्यायज्ञानी मुनि के प्रश्न का सामाधान देने के लिए वे मन का प्रयोग करते हैं, पर वह मानसिक चंचलता नहीं है। अतः शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद को हम मनोनिरोध नहीं कह सकते। फिर भी वह अवस्था है ध्यान रूप ही। यहां ध्यान की परिभाषा बदल जाती है। यहाँ चिन्तन निरोध की बजाय काय निरोध को ध्यान कहा जाएगा। तथा चतुर्थ चरण में तो वह भी नहीं रहता। अपितु सूक्ष्म-स्थूल शरीरों का त्याग करना ही ध्यान कहलाता है। केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि तक सयोगी केवली अवस्था में रहकर अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहते हुए केवली भगवान शुक्लध्यान के तृतीय चरण में प्रवेश करते हैं। सर्वप्रथम वे मनोयोग का निरोध करते हैं फिर वचनयोग का। काययोग का भी स्थूल अंश रोकते हैं। ये सब कार्य वे योगों के माध्यम से ही करते हैं, पर स्थूल-काय-निरोध हो जाने के पश्चात् **'सूक्ष्म काय योग'** रह जाता है, अब उसका निरोध किस माध्यम से करेंगे? उसका उत्तर

है- ध्यान से। वे अपनी चेतना की शक्ति द्वारा सूक्ष्म काय क्रिया को निरुद्ध कर देते हैं– उस आत्मावस्था का नाम है **"सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति शुक्ल ध्यान"**। इतने मात्र से वे अयोगी अवस्था में पहुंच जाते हैं, उस अवस्था का कालमान पांच ह्रस्व अक्षर के उच्चारण जितना होता है। उस समय आत्मा के लिए एक ही कार्य शेष रह जाता है कि औदारिक-तैजस-कार्मण शरीरों से आत्मा की संबद्धता को समाप्त करना, आत्मा के स्थूल सूक्ष्म योग बन्द हो चुके होते हैं। शैलेषी-अनिष्कम्प अवस्था में विद्यमान आत्मा **"व्यवच्छिन्न क्रियाऽप्रतिपाती"** नामक ध्यान के द्वारा शरीर से मुक्त हो जाती है।

यदि शुक्ल ध्यान के भेदों पर तटस्थ विचार करें तो पहले दो भेद ही साधक के लिए उपयोगी हैं। अंतिम दो तो केवल सहज घटनाएं हैं जो कि सब मुच्यमान आत्माओं के साथ घटित होती हैं। शुक्लध्यान के लिङ्ग, अनुप्रेक्षा आलम्बन आदि की जो भी चर्चाएं चलती हैं, वे धर्मध्यान से ऊपर उठने को अग्रसर तथा शुक्लध्यान की ओर उन्मुख साधकों की मनोदशा की झलक देती हैं।

शुक्ल ध्यान की तैयारी में वे अनुप्रेक्षा, लिंग आदि सभी अवस्थाएं निर्मित होती हैं। क्योंकि शुक्ल ध्यान के प्रथम दो भेद अन्तर्मुहूर्त मात्र समय तक रहते हैं, तदनन्तर तो केवलोपलब्धि ही हो जाती है। इसलिए जो लिंग आदि का चित्रण है वह भी शुक्लध्यान की पूर्वावस्था का है या फिर 11वें गुणस्थान से लौटकर छठे सातवें गुणस्थानों में साधक उन दौरों का साक्षी बनता है।

शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं निम्न हैं– I अनन्तानुवर्ती भावना, II विपरिणाम भावना, III अशुभ भावना, IV अपाय भावना।

I **अनन्तानुवर्ती भावनाः** प्रथम भावना के अन्तर्गत साधक उन-2 अनन्तताओं को अपनी चित्तवृत्ति पर लाने का प्रयास करता है, जिन अनन्तताओं ने अब तक संसार में भटकाया है या वह उन अनन्तताओं

का चिन्तन करता है, जिनसे ये परिभ्रमण बन्द हो सकता है। यथा अनन्त काल से जीव कर्माधीन है। अनन्त आत्माएं इससे मुक्त हो चुकी, अनन्त अभव्य जीव मुक्त नहीं हो सकते, अनन्त भव्य मुक्त होंगे, अनन्त भव्य मुक्त नहीं होंगे। एक साधारण शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। एक पुद्गल परावर्तन में अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल व्यतीत हो जाता है। ऐसे अनन्त × अनन्त = अनन्तानन्त पुद्गल परावर्तन काल तक हमारी आत्मा सम्यक्त्व से वंचित रही है। अनन्त के नौ भेद हैंः परित्त अनन्त, युक्त अनन्त, अनन्तानन्त। फिर तीनों के जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भेद इत्यादि चिन्तनरूप अनुप्रेक्षा शुक्ल ध्यान की भूमिका बनाने में सहायक होती है।

II **विपरिणाम भावनाः** दूसरी विपरिणामानुप्रेक्षा पुद्गलों के सूक्ष्म परिवर्तनों का चिन्तन है। यथा अग्रहण वर्गणाएं ग्रहण वर्गणाओं में परिणत हो सकती हैं, ग्रहण वर्गणाएं अग्रहण में। औदारिक वर्गणाएं वैक्रिय रूप में तब्दील हो सकती हैं, इससे विपरीत वैक्रिय वर्गणाएं औदारिक रूप में। कर्म नोकर्म बन जाते हैं तो नोकर्म कर्म। विश्व की विचित्रताएं विपरिणमन के कारण होती हैं। स्वरूप परिणमन, पररूप परिणमन, आदि विषय इस भावना (अनुप्रेक्षा) के अंतर्गत विचारित होते हैं।

III **अशुभ भावनाः** तीसरी अशुभ भावना के अन्तर्गत साधक विचार करता है- आस्रवों के कारण आत्मा में कर्म आते हैं, वे अशुभफल भी देते हैं। सारा संसार अशुभता का ठिकाना है। शरीर भी अशुभ है, अशुचि है— इससे आसक्ति कैसी? इस भावना से संवेग और वैराग्य पुष्ट होते हैं तथा शुक्ल ध्यान की ओर बढ़ने की संभावना बनती है।

IV **अपाय भावनाः** चौथी अपायानुप्रेक्षा के दौरान कषायों का विशेष विश्लेषण किया जाता है। मेरे अन्तर्मन में कषायों की कितनी प्रगाढता है, कितनी अल्पता है, मेरी कषायों का स्तर चेतन मन तक है

या अवचेतन मन तक है। कषायों के इस चिन्तन से साधक निर्मलता की ओर बढ सकता है। इस तरह ये चारों अनुप्रेक्षाएं शुक्ल ध्यान के इच्छुक साधकों के लिए परमावश्यक है।

शुक्ल ध्यान पर आरोहण करने के लिए धर्मध्यानरत साधक को चार योग्यताओं का आधान स्वजीवन में करना आवश्यक है। ये चार योग्यताएं विकसित होते-2 साधक को शुक्ल ध्यान में जाने के लिए Support System बन जाती हैं। इन्हें आलम्बन नाम दिया जाता है। **क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव** नामक ये चार आलम्बन चार कषायों के आत्यन्तिक क्षय की पूर्वावस्थाएं हैं। क्षान्ति नामक आत्मगुण के विकास से जीवात्मा नए पुराने सभी वैर विरोधों को भुलाकर पूर्ण क्षमा भाव में आ जाता है। अतीत में जिन व्यक्तियों, स्थितियों ने साधक की मानसिक शान्ति को रौंदा-कुचला था, उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापन की भावना उदित हो जाती है। वर्तमान में तन और मन को उद्विग्न करने वाले तत्त्वों के प्रति पूर्ण उपेक्षाभाव तो आ ही जाता है। साथ ही परम मैत्री से उसे गले लगाने को मन भी तैयार हो जाता है। ऐसी मनः स्थिति में शुक्ल ध्यान बनने की संभावना बन जाती है। मुक्ति नामक दूसरी योग्यता पूर्ण संतोष रूप होती है। इच्छाओं की अतृप्त पिपासा से मुक्त होकर मन गहन संतुष्टि के क्षीर सागर में निमग्न हो जाता है। किसी वस्तु के चले जाने का ग़म नहीं सताता, किसी वस्तु को पाने की लालसा नहीं जगती। आत्म-निमग्नता, स्वरमणता ही उस आत्मा की उपलब्धि होती है। आर्जव नामक तीसरे आलम्बन से मन पूर्णतः सरल, निष्कपट और निश्छल हो जाता है। किस प्राणी को धोखा दूं- जब अपने से भिन्न कोई है ही नहीं, किस वस्तु के लिए धोखा दूँ जब कोई वस्तु मेरे लिए प्राप्य ही नहीं, मैं पूर्ण संतुष्ट हूँ। किस तरह धोखा दूँ– जब सब कुछ सर्वज्ञों की दृष्टि में दिखाई दे रहा है। तथा मेरे पास बुद्धि को घुमाने की कला भी उपलब्ध नहीं है। ऐसा सरल मन शुक्ल ध्यान का शीघ्र ही अधिकारी बन जाता है।

मार्दव नामक चतुर्थ अध्यात्म भाव की उत्पत्ति होने पर मानव-मन पुष्प और नवनीत की भांति कोमल एवं दयालु बन जाता है। विश्व में होने वाली पीड़ाओं के प्रति अति संवेदनशीलता से उसका रोम-2 उद्वेलित रहता है। उसकी एक मात्र चाहत होती है कि मैं सृष्टि के सब दुःखों का उपचार कर दूँ। ऐसी करुणाशीलता उस मन को शुक्लध्यान तक जाने में परम सहयोग प्रदान करती है। शुक्लध्यान के चार लक्षणों को भी प्रायः चर्चित किया जाता है। शुक्लध्यान के अभ्यासी साधक में **व्यथा** की अभिव्यक्ति नहीं होती। कठिन से कठिन शारीरिक पीड़ा झेल सकने का उसमें सामर्थ्य होता है। भयंकर से भंयकर वेदना में भी उसके चेहरे पर शिकन नहीं आती, रोमाञ्च नहीं होता। गजसुकमाल, मेतार्य, स्कन्दक के 500 शिष्य आदि में ये लक्षण स्पष्ट लक्षित होता है। शुक्ल ध्यानी की दूसरी पहचान **असंमोह** मानी है। साधक की चेतना देवमाया आदि को लेकर संमोहित नहीं होती। संथारे आदि के मौके पर वह निदान आदि के लिए उकसाने वाले दिव्य प्रलोभनों के चक्कर में नहीं आता। पूर्णतः अप्रमत्त और जागरूक रह कर आत्मसाधना में लीन रहता है।

तीसरा लक्षण है **विवेक**। उसे शरीर और आत्मा की भिन्नता का स्पष्ट बोध होने लगता है। शुभ अशुभ की विवेचना होने लगती है। स्वकर्म तथा परकीय निमित्त का अंतर उसे समझ आ जाता है। इसलिए न अधिक रागोत्पत्ति होती न अधिक द्वेष का उभार। चौथा लक्षण **'व्युत्सर्ग'** है। अर्थात् छोड़ देना या छूट जाना। धर्मध्यान का आराधक तो अनावश्यक तत्त्वों को छोड़ता है- शुक्ल ध्यानी से ये बेकार चीजें स्वतः छूट जाती है। वस्त्र पात्र आदि उपधि ही नहीं, शुक्ल ध्यानी की काया भी छूट जाती है। कषाय छूट जाती है तो कर्म भी छूट जाते हैं। कर्म छूटते हैं तो संसार ही छूट जाता है।

शुक्ल ध्यान में लेश्याओं का स्तर बहुत ऊंचा उठ जाता है। धर्म ध्यान में भी यों तो तेजो पद्म शुक्ल ये शुभलेश्याएं होती हैं पर शुक्ल

ध्यान में तो उनकी शुभता पूर्ण प्रकर्ष तक पहुंच जाती है। तथा सयोगी केवली गुण स्थान के अंत में जब शुक्ल ध्यान का तृतीय चरण होता है, तब परमशुक्ल लेश्या होती है। चौहदवें अयोगी केवली गुणस्थान में जब शुक्ल ध्यान का चौथा चरण होता है, तब लेश्या का अस्तित्त्व ही नहीं रहता। जीव अलेश्य-लेश्या रहित— हो जाता है।

धर्म शुक्ल ध्यानों के स्वरूप को जैनाचार्यों ने अन्य विधि से भी प्रस्तुत किया है। वहाँ पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत में चार अवस्थाएं वर्णित की हैं। पदस्थ और पिण्डस्थ ये दो ध्यान सामान्यतः धर्मध्यान के अन्तर्गत आ सकते हैं तथा रूपस्थ और रूपातीत शुक्लध्यान के साथ नत्थी किए जा सकते हैं। किसी एक शब्द या मंत्र का अवलम्ब लेकर उसे गुनगुनाते रहना, रटते रहना, उस शब्द से मन को इधर उधर न जाने देना **पदस्थ** ध्यान होता है। जैन धर्म के ध्यानाराधक, प्राचीनतम काल में मन्त्र आदि का सघन जाप कम करते थे। पर जैनेतर परम्पराओं में इस ध्यान पद्धति का प्रचलन था। यही पदस्थ ध्यान बढते-2 अजपाजाप या अनहदनाद भी बन जाता था। हाँ, पिण्डस्थ ध्यान का प्रचलन जैन धर्म में बहुत रहा। किसी एक पदार्थ को अपने नेत्रों का केन्द्र बनाकर उसी पर अपलक निहारते रहने की प्रक्रिया **पिण्डस्थ** ध्यान कहलाई। **"एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठिए"** एक पुद्गल पर अपनी नजर स्थिर करके साधक ध्यान करते थे। ऐसा मूल आगमों में उल्लिखित है। पहले भी लिखा है कि स्वयं भगवान् महावीर स्वामी इस ध्यान का विशेष प्रयोग करते थे।

अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झाति।
अह चक्खुभीया सहिया हंता-2 बहवो कंदिसु ॥

भगवान् अपने सामने किसी भी दीवार पर नजरें टिकाकर बाहर से सम्पर्क काट देते थे और अन्दर में डूब जाते थे। उस समय भ. के नेत्रों का आकार कमजोर दिल के लोगों को भयभीत कर देता था।

और कोई-2 हाय-2 कहकर रोने लगते थे। भगवान् की इस विधि को किसी ने पिण्डस्थ तो किसी ने त्राटक नाम दिया है। जैन कथा साहित्य में विशाला जनपद के नृप चन्द्रावतंस का जिक्र आता है। उसने पौषध करते हुए रात्रि में दीपक की लौ पर अपनी दृष्टि टिका दी थी। और पूरी रात खड़े रहकर उन्होंने इस ध्यान की आराधना की थी। **रूपस्थ ध्यान**– जब कोई साधक आंखें बन्द करके किसी गुरु, भगवान् या आराध्य की मुखमुद्रा पर अपना मन केन्द्रित करता है, तब रूपस्थ ध्यान बनता है। आंखें खोलकर उस आकार को देखते रहना पिण्डस्थ ध्यान है, आंखें बन्द करके मन पर उस आकार को बनाकर, उसी पर चेतना को स्थिर कर देना रूपस्थ ध्यान है। इसे हम 'पृथक्त्व सविचार' शुक्ल ध्यान के बराबर का दर्जा भी दे सकते है। जब यह रूपस्थ ध्यान अधिक गहरा हो जाता है, तब ध्याता के मानस से वह रूप और आकार भी विदा हो जाता है और समग्र चेतना ध्यानमय हो जाती है, उस अवस्था को **रूपातीत** नाम दिया जाता है। इसे ही शास्त्रीय भाषा में 'एकत्व अविचार' शुक्ल ध्यान कहा जाता है।

इस प्रकार ध्यान को जैनागमों में भी विशेष महत्त्व दिया गया है। "झाणकोट्ठोवगओ" ध्यान एक वातानुकूलित प्रकोष्ठ होता है, जहाँ सांसारिक शब्दों-वर्णों की गर्म हवाओं का प्रभाव नष्ट हो जाता है। पाप, ताप, अभिशापों से मुक्ति दिलाने वाले इस तप का नाम ध्यान है।

8. संवत्सरी आराधना

(स्वाध्यायी बन्धुओं के लिए)

(तर्ज–इक प्यार का)

जन-जन के लिए देता, संदेश निराला है
महापर्व संवत्सरी ये लाया अनुपम उजाला है ॥ टेक ॥

1. दुनिया में आग लगी, भोगों की विकारों की
सबको ही जरूरत है, धार्मिक बौछारों की
धर्म वृष्टि से बुझ जाती, पापों की ज्वाला है॥

2. झूठे आडम्बर में, मानव का मन घूमा
भौतिकता की मदिरा, पीकर कण-कण झूमा
गुरु भक्ति का श्रद्धा का, पीना अब प्याला है॥

3. दुख हैं पीड़ाएं हैं, संघर्ष की बातें हैं
कभी दुश्मन कभी प्यारे, छुरियों को चलाते हैं
ऊपर का धवल मानव, भीतर से काला है॥

4. अपने मन की शुद्धि, करनी है सरलता से
बने निर्मल मधुर जीवन, भावों की तरलता से
आस्था से पिरोनी अब, सांसों की माला है॥

5. हम मांगे क्षमा सबसे, हम देवें क्षमा सबको
बन जाएं सभी के हम, लेवें अपना सबको
खोल लेना है रिश्तों का, बन्द अब तक जो ताला है॥

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमः प्रभुः।
मंगलं स्थूल भद्राद्याः जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

पूज्य गुरूदेवों की कृपा से कुछ देर आपके सामने विचार पेश करूंगा। आप लोगों पर पूज्य गुरुदेवों ने विशेष कृपा की है और हम पर तो और भी ज्यादा कृपा की है, जो आज हम और आप मिलकर संवत्सरी पर्व मना रहे हैं। इस त्यौहार के बारे में बहुत थोड़े लोग जानते हैं। लेकिन जो जानते हैं उन्हें पता है कि संसार के सभी त्यौहारों से इसकी क्या विशेषता और महानता है। दुनिया के ज्यादातर त्यौहारों में मौज मस्ती का माहौल होता है। खाना पीना, गाना बजाना, सजना संवरना, घूमना फिरना ये सब बातें दुनियावी त्यौहारों में होती हैं लेकिन संवत्सरी तो एक धार्मिक त्यौहार है। इस त्यौहार के उपलक्ष्य में तो व्रत-पौषध, त्याग तपस्या, प्रतिक्रमण प्रार्थना, क्षमा और आलोचना की जाती है। आत्म-कल्याण का संदेश मिलता है संवत्सरी से तो, बाहरी खुशियों का पैगाम लेकर आते हैं दूसरे त्यौहार। दीपावली पर हम दीपक जलाते हैं, मिठाइयां बांटते और खाते हैं, लक्ष्मी का पूजन करते हैं। दशहरे पर शस्त्रपूजा, रामलीला का हम आनन्द लेते हैं। रक्षाबंधन पर राखी बांधकर हम अपने स्नेह संबंधों को मजबूती देते हैं, होली पर रंगों को उड़ाकर और लगाकर हम अपने मन को आनंदित करते हैं। मुस्लिम लोग ईद पर नए-नए कपड़े पहनकर बधाइयां लेते और देते हैं। क्रिसमस के मौके ईसाई वृक्षों पर बल्ब लगाकर चमकाते हैं तथा उपहारों का लेनदेन करते हैं। संसार में और भी पर्व हैं। राष्ट्रीय चेतना के जागरण के लिए गणतंत्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस, गणेश चतुर्थी आदि पर्व मनाए जाते हैं। जन्माष्टमी, रामनवमी, वीर जयन्ती, प्रकाश पर्व आदि महापुरुषों के योगदान को याद करने के लिए मनाए जाते हैं। कुछ पर्व सांस्कृतिक विरासत की सुरक्षा के लिए Celebrate किए जाते हैं, लेकिन इन सबमें संवत्सरी पर्व ऐसा है जिसका एकमात्र उद्देश्य आत्मा का विकास है। आत्मा के विकास के बिना यह इंसान कितना

ही आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक या भौतिक विकास कर ले, उसे शांति नहीं मिल सकती।

"बढ़ने लगे हैं कदम जबसे विकास के
सब अर्थ ही बदल गए संधि समास के"

आज विज्ञान ने हमारे देखते-देखते कितनी क्रांति कर दिखाई है। जो इंसान चलने के लिए सिर्फ पैरों पर भरोसा रखता था, उसने छकड़ा गाड़ी बनाते-बनाते साईकिल, बाईक, कार, बस, रेल, मैट्रो, हेलीकोप्टर, हवाई जहाज तथा रॉकेट तक Use करने शुरू कर दिए हैं। अपने घर की चारदीवारी से निकल आज का इंसान पांच महाद्वीपों की यात्रा करने लगा है। और तो और चांद, सूर्य, मंगल-शुक्र तक की दौड़ लगाने लगा है। पत्थर के टुकड़ों से प्रहार करते-करते अणुबम जैसे भीषण अस्त्र शस्त्र बना चुका है। दूर संचार साधनों की कहानी लगभग अविश्वसनीय लगने लगी है। रेडियो, T.V, फोन, Mobile, Laptop, Facebook, Whatsapp, न जाने क्या कुछ हो चुका और क्या कुछ होने वाला है। जिस रफ्तार से साइंस और टैक्नोलोजी आगे बढ़ रही है, उससे लगता है कि आने वाले समय में संसार का बाहरी ढांचा काफी कुछ बदल जाएगा। इस परिवर्तन के बावजूद क्या मानव जाति सुखी हो जाएगी, ये सवाल अभी से हमारे दिमागों में कौंधने लगा है। हमारा आज तक का तो अनुभव यही कह रहा है कि हम सुविधाएं बढ़ा लेंगे और सुख को घटा लेंगे। Lost and Found की List में हमने देखा है कि जिस अनुपात में हमें आराम के साधन मिलते जाते हैं उसी अनुपात में हमारी मानसिक शांति तथा आध्यात्मिक स्वच्छता छिनती जाती है। We have found the means but we have lost our goals. **पुरानी और नई रोशनी में बस फर्क इतना है– उसे किश्ती नहीं मिलती, इसे साहिल नहीं मिलता।** 50 साल पहले कितने लोगों के पास कारें, शानदार कपड़े, आलीशान कोठी या फ्लैट थे, लेकिन उन्हें शांति, अमन और चैन था। जबकि आज हमारे पास इतने साधन इकट्ठे हो गए हैं जिनकी

गिनती करना भी मुश्किल है, लेकिन इन उपलब्धियों के बावजूद हमारे पास क्या है। आपसी ईर्ष्याएं, प्रतिस्पर्धाएं हैं, टकराव और दुराव हैं, आपाधापियां हैं, मारधाड़ है, एक अंतहीन आकांक्षा हमारे अंतस को घेरे हुए है। हमें अपने आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए दो घड़ी का समय भी उपलब्ध नहीं है। कैसी विचित्र बिडम्बना है कि हमारे पास दुनियादारी के लिए 24×7 Time है, पर अपने लिए कितना है? 12 महीनों में एक महीना भी नहीं, एक महीने में एक सप्ताह भी नहीं, एक सप्ताह में एक दिन भी नहीं, एक दिन में एक घंटा भी नहीं। कारण ये नहीं कि हमारे पास समय नहीं है, कारण ये है कि हमारी इच्छा नहीं है। इसका परिणाम ये है कि हर बीते समय पर हम रोते हैं, हर बीतते पल पर सोते हैं, हर आने वाले समय को खोते है।

हमारे पूर्व ऋषियों, गुरुओं तथा तीर्थंकरों ने इस समय की बर्बादगी से बचाने के लिए हमें कुछ रास्ते बताए हैं। संवत्सरी पर्व भी उन्हीं रास्तों में से एक रास्ता है। साल का एक दिन हम पूर्ण धर्म ध्यान में बिताएं, अपने मन को शान्त और निष्पाप बनाएं। शरीर को तप में लगाएं, सादगी का शृंगार करें, भाईचारा बढ़ाएं, अपनी पिछली भूलों का संशोधन करें। यही लक्ष्य संवत्सरी मनाने का है। यह पावन दिन उस वक्त की याद दिलाता है जब मानव जाति दुःखों के महागर्त से बाहर आकर अपने भविष्य के नवनिर्माण का संकल्प लेती है। जैन धर्म के अनुसार समय गोल चक्र की तरह घूमता है। जैसे घड़ी की सूइयां ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर की ओर आती हैं, ऐसे ही कालचक्र की सूइयां भी एक बार नीचे की ओर, फिर ऊपर की ओर चलती हैं। संवत्सरी का इतिहास नीचे से ऊपर की ओर की यात्रा के दूसरे पड़ाव पर निर्मित होता है। उतरते हुए Descending time को अवसर्पिणी कहा जाता है तथा चढते हुए Ascending time को उत्सर्पिणी कहा जाता है। उत्सर्पिणी का प्रथम चरण अर्थात् पहला आरा 'दुःखम् दुःखम्' घोरतम दुःख से भरपूर होता है। लेकिन दूसरे आरे के दूसरे चरण के

प्रारंभ में प्रकृति का रुख मुड़ने लगता है। भीषण गर्मी से तप्त धरती पर विविध प्रकार के मेघों की बरसात होती है। 49 दिन तक आसमान और धरती गलबाहियां डाले एक दूसरे से प्रेममग्न हो जाते है। आसमान मेहरबान और धरती हरी भरी हो जाती है। मानव जाति पहली बार प्रकृति के सौम्य रूप से परिचित होती है। और सब मिलकर निर्णय लेते हैं कि आज के बाद हम मांसाहार छोड़ेंगे, केवल कृषि उत्पादों से Agricultural Products से अपनी देहयात्रा चलाएंगे। अहिंसा, प्रेम, सद्भावना, भाई चारे का वह मंगलकारी दिन ही संवत्सरी के रूप में आज तक मनाया जाता है। एक जैन शास्त्र का नाम ज्ञाता धर्म कथांग हैं, उसमें एक दृष्टांत आता है कि जितशत्रु नामक एक राजा अपने मंत्री के साथ नगर के बाहर घूमने निकला। रास्ते में गन्दा नाला पड़ता था, जिसमें शहर भर का कूड़ा, गंदगी बहती थी, पशुओं के मृत कलेवर भी उसमें पड़े रहते थे, बड़ी भयंकर दुर्गन्ध आ रही थी। राजा को वह दुर्गन्ध बर्दाश्त नहीं हुई। अपनी परेशानी मंत्री सुबुद्धि के सामने रखी तो मंत्री ने कहा– हजूर! ये दुर्गन्धित जल सुगंधित हो सकता है, यह पीने लायक भी हो सकता है क्योंकि पानी का मूल स्वभाव स्वच्छता और शीतलता है। यदि इसमें पड़ा हुआ अशुद्ध तत्त्व निकाल दिया जाए तो पानी तो अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाएगा। वह पेय हो जाएगा। पानी की उस हालत को देखकर राजा को यकीन नहीं हुआ, कहने लगा– तुम जैसे लोग केवल अक्ल के बल पर किसी भी बात को सिद्ध कर देते हो, Practical में ऐसा नहीं हो सकता। ये गंदा सड़ा पानी तीन काल में पीने लायक नहीं हो सकता। मंत्री ने अधिक बहस करना वाज़िब नहीं समझा। प्रमाण सहित बात पेश कर दूं, तभी कहने का मजा है। उसने उसी दिन शाम को अपने कर्मचारियों के ज़रिए 7 घड़ों में वह नाले का पानी भरवाया व अपने घर पर मंगवा लिया। सात दिन तक उसे बिल्कुल छेड़ा नहीं, कुछ कूड़ा घड़ों की तली में जमा हो गया। फिर मंत्री ने अपनी निगरानी में बहुत सावधानी के साथ 7 नए घड़ों में वह पानी डलवा दिया फिर उसे निथरने दिया। सात दिन बीत गए। पानी

के रंग में गंध में कुछ अंतर आने लगा। कूड़ा कर्कट मिट्टी तल में बैठने लगी, रूप निखरने लगा। पानी अपनी मूल प्रकृति की ओर मुड़ने लगा। अगले सप्ताह फिर सुबुद्धि मंत्री ने नए घड़ों में उलटवा दिया। ये ध्यान रखा गया कि नीचे जमा हुआ मैल पानी से न मिल जाए, वर्ना 7 दिन की मेहनत बेकार हो जाएगी। पानी तो छेड़ने से दूषित होता है।

ऐसा हुआ कि एक बार महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों के साथ विहार कर रहे थे। एक झरने को पार कर कुछ आगे बढ़े थे कि गर्मी हो गई। प्यास लगने लगी। उन्होंने अपने एक शिष्य को कमण्डल थमाया और कहने लगे कि अभी एक कोस पीछे जो झरना है, उसमें से पानी भरकर ले आओ। जब शिष्य वहां पहुंचा तो उस झरने का पानी बिल्कुल मटमैला हो चुका था क्योंकि अभी उसमें से कुछ गाड़ियाँ गुजर कर गई थी, जिस कारण जमीन की मिट्टी उठकर पानी में मिल चुकी थी। शिष्य ने वापस आकर बुद्ध के सामने सारी स्थिति बता दी और कहा कि वह पानी तो इंसानों के पीने लायक नहीं है। मैं किसी और जगह से पानी ढूंढकर ले आता हूं। बुद्ध ने कहा– नहीं, वापस जाओ, उसी झरने से पानी भरकर लाओ, मैं उसी पानी को पीऊंगा। शिष्य अनमने भाव से वापस गया। पर हैरान हो गया कि पानी बिल्कुल स्वच्छ मिला। उसने पात्र भरा और बुद्ध को समर्पित कर दिया। बुद्ध ने कहा– शिष्य! मैंने तुझे उसी झरने का पानी लाने के लिए विशेष उद्देश्य से भेजा था। जब तुम पहली बार गए तथा गाड़ियों के निकलने से सारा पानी गंदला था। लेकिन कुछ ही देर में जब बाहरी दखल बन्द हो गया तो झरना अपने मूल रूप में आ गया। मिट्टी नीचे बैठ गई। कुछ पत्ते या हल्का कचरा आगे बह गया। इसी तरह जब साधक अपने मन में बाहरी तत्त्वों को नहीं घुसने देता रागद्वेष से भरपूर विचारों को टाल देता है तो उसका अन्तस्तल परम शांत और स्वच्छ हो जाता है। एक संदेश देने वास्ते मैंने तुझे उसी झरने पर भेजा

था ताकि तू ये समझ जाए कि मानव चेतना अपने मौलिक स्तर पर निर्मल, शुद्ध और पवित्र है।

राजा जितशत्रु का महामंत्री सुबुद्धि भी इसी विश्वास के साथ आगे बढ़ रहा था। दो सप्ताह के टिकाव के बाद पानी कुछ निखरने लगा था। पर अभी शुद्धि की यात्रा लंबी थी, तीसरे सप्ताह उस पानी में कुछ ऐसे तत्त्व डाले गए जो पानी के अन्दर घुले मैल को फाड़कर अलग कर दें। जैसे आजकल फटकरी से ये काम लिया जाता है, उस युग में कतक फल काम आता था। मंत्री ने कतकफल डालकर फिर एक सप्ताह इंजतार की। मैल फटा और तले में जा बैठा, ऊपर केवल पानी तैर गया। उस शुद्ध पानी को अगले सप्ताह Filter से गुज़ारा गया। पांचवे सप्ताह उसे R.O. System से Bacteria Free किया गया। छठे सप्ताह पानी में आरोग्यवर्धक तत्त्व डाले गए, तथा सातवें सप्ताह उसमें पाचक, रोचक, रसदायक, पौष्टिक तत्त्व जो कि जल के ही सूक्ष्म अंश होते हैं वे डाले गए। इस तरह 49 दिनों में स्फटिक के समान निर्मल, अमृत के समान स्वादिष्ट पानी को मंत्री ने राजा के खाने की मेज पर रखवाया तो राजा दंग रह गया। जब मंत्री ने सारी प्रक्रिया बताई तो उसे विश्वास हो गया– शहर के गंदे नाले का पानी भी शुद्ध गंगोत्री के नीर जैसा बन सकता है।

तीर्थंकर भगवन्तों ने भी हमें ये विश्वास दिलाया है कि यदि हम चातुर्मास प्रारंभ होते ही अपने आंतरिक दोषों की शुद्धि प्रारंभ कर दें तो एक-एक परत को साफ करते-करते सात परतें शुद्ध हो जाएंगी। और 50वें दिन पावन पर्व संवत्सरी के अवसर पर हम पूर्ण शुद्ध और पवित्र बन जाएंगे। पहले सप्ताह हमें अपने शारीरिक दोषों का निराकरण करना है। आलस्य, निद्रा, असमय भोजन, आसन मुद्राओं की अव्यवस्था से हमारा शारीरिक ढांचा काफी तो चरमरा चुका है, काफी खतरे में है। बचपन से ही हमें Fast Food, Junk Food खाने की आदतें बन गई हैं। खेलकूद के नाम पर Video Games रह गए हैं। सारा Life Style

आराम तलबी का हो गया। A.C. कमरे, स्कूल बसों के कारण हड्डियों में जान गायब होती जा रही है। इन शारीरिक दुर्बलताओं को हम कोशिश करके एक सप्ताह में कुछ कम करें, उन पर विजय पाएं तो चतुर्मास का पहला सप्ताह कामयाब हो गया और गंदे नाले के पानी की सफाई होनी शुरू हो गई। जिन्दगी का दूसरा हिस्सा Nervous System स्नायु तंत्र है। इसमें भी नाना प्रकार के दोष घुस चुके हैं। पुराने जमाने में जो दोष वात पित्त और कफ के कारण माने जाते हैं, आजकल उन दोषों का मूल उद्‌गम स्नायु तंत्र माना जाता है। अलजीमर Disc, सुन्नपना, सुस्ती आदि कितनी ही बिमारियां स्नायु दुर्बलता से उत्पन्न होती हैं। हमें दूसरे सप्ताह अपने इसी तंत्र की जांच पड़ताल करनी है ध्यान और योग साधना से यह कार्य शीघ्र संभव है। स्नायु तंत्र कण्ट्रोल में आया कि समझो पानी की मोटी गाध तह में बैठनी शुरू हो गई। तीसरे सप्ताह हमें अपनी रसायनिक क्रियाओं पर नियंत्रण का अभ्यास करना चाहिए। रसायनिक क्रियाओं को हम Harmonal Effects कह सकते हैं। शरीर के सूक्ष्म रसायन हमारी लेश्याओं और संज्ञाओं को उत्पन्न करते हैं और उभारते हैं। इनके कारण हमारा भीतर का संसार विषाक्त हो जाता है। हम बिना जरूरत के, फिजूल में ही क्रूरता, कठोरता, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा के शिकार हो जाते हैं। लेकिन अभ्यास और अप्रमाद का सहारा लेंगे तो हम इन रसायनों को भी वशीभूत कर लेंगे और इनके Reactions से बचाव कर लेंगे। ये समझ लें कि मैले पानी में फटकरी डालने के बाद मैल फट जाने जैसी जिन्दगी की स्थिति बन जाएगी लेकिन इन सबके लिए बहुत जागरुकता की जरूरत है।

आओ कुछ और आगे बढ़ें, जीवन का चौथा महत्वपूर्ण अंग है– इन्द्रियां। ये आत्मा के लिए हितकारक भी हैं तो घातक भी हैं। यदि ये पांच इन्द्रियां आत्मा के अधीन होकर काम करती हैं तो हितकारक हैं, यदि स्वतंत्र होकर घूमती हैं तो विध्वंस मचा देती हैं। एक सम्राट की सुरक्षा में पांच सिपाही हों तथा एक अपराधी की सुरक्षा में पांच

सिपाही हों, लगता है कि दोनों स्थितियां एक सी हैं पर नहीं। पांच सिपाही एक सम्राट के अधीन हैं तथा एक अपराधी पांच सिपाहियों के अधीन है। ऐसे ही इन्द्रियां ज्ञानियों के पास भी होती हैं, अज्ञानियों के पास भी, परन्तु ज्ञानी उन्हें अपने अनुसार चलाता है जबकि अज्ञानी उनके अनुसार चलता है। चतुर्मास के चतुर्थ सप्ताह में हम अपनी इन्द्रियों की पड़ताल करें, उन्हें आत्महित में लगाएं तो धर्मयात्रा का पथ आनन्द से भरपूर होने लगेगा। जीवन के जल में प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगेगा। अब हमें सबसे जटिल वस्तु का सामना करना है। ये सप्ताह बड़ा Crucial है। ये जो सामने माया जाल खड़ा है इसका नाम मन है। इसकी तफतीस हमें सप्ताह भर में कर लेनी है क्योंकि हमारे समक्ष कई चुनौतियां और पड़ी हैं। मन इन्द्रियों का Co-ordinater है। यह इन्द्रियों से जानकारी ले लेकर उन्हें Store कर लेता है। फिर उन्हें अच्छे बुरे अनूकूल प्रतिकूल अपने पराए में बांट देता है। यह मन ही राग और द्वेष के दो पाले बना देता है और जीवन जगत को इन दो पाटों में पीसना चालू कर देता है। हमारी मौजूदा दुर्गति, दुर्दशा का अहम कारण ये मन ही है। वैसे तो इसको समझने में सैकड़ों साल खप जाएं तो भी समझ ना आए, मगर हमें तो थोड़ा ही समय मिला है। सात दिन में इस मन को बंदी बनाना है, यदि ये कार्य सिद्ध हो गया तो हमने बहुत बड़ी बाजी जीत ली। यों समझिए कि जिन्दगी का जल Filter होकर पीने योग्य हो गया।

मन से आगे भी कर्मों का संसार है, जो हमें दिखाई नहीं देता। मन को हम महसूस तो कर सकते हैं मगर कर्म तो न दिखाई देते, न महसूस होते। न वे बंधते नज़र आते, न उदय अवस्था में दिखते, न खत्म होकर जाते हुए प्रतीत होते। जबकि कर्म हमारी भौतिक सत्ता के मूल कारण है। ये हमारे जन्म मरण को Regulate करते हैं, शरीर बुद्धि और मन का निर्माण करते हैं, हमारी ऊंची नीची स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं, हमारे दुःख सुख के कर्ता-धर्ता भी हैं। जब हम पूर्ण उत्कटता के साथ

कर्मों पर Concentrate करेंगे तो संभव है कि इस दुर्ग को भी भेद डालेंगे। कर्मों की ताकत है तो बहुत बड़ी परन्तु आत्म ऊर्जा के आगे कर्मों का जोर चल नहीं सकता। कर्मों से पार झांकने की ताकत आने का मतलब है कि हमारा जल शुद्ध होते-होते पुष्टिकारक भी हो गया है। अब तो केवल एक ही दीवार फांदनी है, एक ही मोर्चा फतेह करना है। कर्म और आत्मा के बीच बस कषाय का झीना सा पर्दा और पड़ा है। बड़ी सूक्ष्म-सूक्ष्म कषायें कर्मों को बुला रही हैं। ये कषायें कर्मों की जड़ हैं, जननी हैं। बस साधक को इस आखरी अड़चन को अंतिम सप्ताह में पार करना है फिर तो यह आत्मा उस पानी के स्वाद को अमृत तुल्य बना देगी। यों समझें कि इन 7 सप्ताहों की जागरूक साधना का परिणाम ये निकलेगा कि संवत्सरी आते ही आत्मा अपने अन्दर का दीदार कर लेगी। संवत्सरी मनाने का लक्ष्य है कि हम आत्मा का दर्शन कर लें। उस तक पहुंचने के लिए हमारे पूर्वजों ने 7-7 दिन के सात विघ्नहारी उपाय बताए है। उन विघ्नों को जीतने वाला ही संवत्सरी मना सकता है।

जिन साधकों को चतुर्मास के पहले दिन से धर्म ध्यान, आत्मकल्याण का संदेश नहीं मिल पाता, वे पर्यूषण के पहले 7 दिनों में एक-एक दिन के हिसाब से अपनी अन्तर्यात्रा पर कदम बढ़ा सकते हैं। और आठवें दिन अर्थात् आज संवत्सरी के परम पावन दिन पर सब बाधाएं चीरकर आत्मकल्याण की घोषणा कर सकते हैं। यदि किसी कारणवश किसी धर्म परायण व्यक्ति को पर्यूषण के आठ दिन भी जागरण का शंखनाद न सुनाई दिया हो, वह संवत्सरी के आठ पहरों में से सात प्रहर तक सात कार्य पूरे कर ले और आठवें प्रहर में आत्मबोध के महासागर में डुबकी लगा ले। सवाल 7 सप्ताह, 7 दिन या 7 प्रहर का नहीं है, सवाल तो अपने भावों का है, श्रद्धा और रूचि का है। जब जिसको जितना मौका मिले, वह अन्दर का अवलोकन कर ले।

"जरा दरिया की तह तक डूब जाने की हिम्मत कर
फिर तो ऐ डूबने वाले किनारा ही किनारा है॥"

आज के दिन को हम लक्ष्य प्राप्ति का दिन नहीं बना पाए तो भी निराश होने की जरूरत नहीं है, इसे हम लक्ष्य का प्रथम पड़ाव भी बना सकते हैं। आज से अपने जीवन परिवर्तन की शुरूआत कर लें। कुछ बिन्दु हैं जिनसे हम अपना नया अध्याय प्रारंभ कर सकते हैं। सर्वप्रथम, हम अपनी आहार शुद्धि करें। यदि किसी कारण हम शाकाहार से हटकर अण्डा मांसाहार की तरफ चले गए हों तो आज से पुनः शाकाहार की ओर आ जाएं।

इसी तरह यदि भूल से हममें से किसी के जीवन में शराब का प्रवेश हुआ हो तो आज अरिहंतों, तीर्थंकरों की साक्षी से प्रण लें कि आइन्दा शराब का सेवन नहीं करेंगे। आधुनिकता के नाम पर ब्याह शादियों में Party, Functions पर शराब का प्रयोग बढ़ता जा रहा है, इस रौ में अच्छे धार्मिक परिवार भी बह रहे हैं। हमारा आप से निवेदन है कि यदि आप अपनी सेहत, दौलत और इज्जत को बचाना चाहते हो, अपनी अगली पीढ़ी को सुरक्षित रखना चाहते हो तो शराब की एक घूंट से भी बचो। वर्ना यही शराब धीरे-धीरे स्मैक, हीरोइन, गांजा, अफीम तथा दूसरी खतरनाक Drugs का रास्ता खोल देगी। अच्छी ज़िन्दगी जीने के लिए कम से कम आप व्यसनमुक्त तो हो ही जाओ।

जो भाई बहन पहले से ही इन दोषों से आजाद हैं उनके लिए आज के दिन का संदेश है कि वे प्रतिदिन माला और सामायिक की ओर अग्रसर हों। अपने मन में ये धारणा बनाएं कि जिस प्रकार शरीर संचालन के लिए भोजन पानी जरूरी है इसी प्रकार मानसिक संतुलन के लिए सामायिक संवर भी जरूरी है। कहावत है– 58 घड़ी घर की तो दो घड़ी हर की। घर में रहने वाले हर धर्मप्रेमी मानव का ये नित्य नियम होना चाहिए कि पहले प्रभु भक्ति, आत्मचिन्तन, स्वाध्याय, ध्यान,

माला सामायिक के लिए समय निकाले, फिर संसार के कार्यों में उलझे। सामायिक करने से मानव जीवन की जो Battery Down हो चुकी होती है, वह Recharge हो जाती है। इसलिए हमारा आत्मिक निवेदन है कि आप सब प्रतिदिन सामायिक करने का संकल्प लें तथा हो सके तो सामायिक के दौरान स्वाध्याय करने का Routine बनाएं।

हाँ, जो भाई बहन सामायिक संवर करते हैं, उन्हें आज के दिन कुछ और उच्चतर कार्य करने हैं। उनके नाम हैं– प्रतिक्रमण, आलोचना और क्षमापना। ये तीनों क्रियाएं एक ही लक्ष्य की पूर्ति करती हैं। इनका ध्येय भिन्न-भिन्न नहीं है। अपनी अन्तरात्मा को शांत बनाते हुए विश्वशांति की स्थापना करना इन क्रियाओं का मुख्य ध्येय है। ये तीनों कार्य आज संवत्सरी के दिन करने अनिवार्य माने जाते हैं। जो लोग अपनी सांसारिक व्यस्तताओं के कारण दैनिक, पाक्षिक या चातुर्मासिक प्रतिक्रमण नहीं कर पाते, उन्हें सांवत्सरिक प्रतिक्रमण तो कर ही लेना चाहिए। हमसे साल भर में जो नियमों की उल्लंघना हुई हो, अपनी गृहस्थोचित मर्यादाओं में कोई टूटफूट हुई हो, अपने लिए हुए व्रतों में शिथिलता आई हो, उन सबसे आज पीछे हटकर अपनी मर्यादाओं में आना प्रतिक्रमण है। अपने जीवन के Debit-Credit का खाता मिलाकर आज Annual Report तैयार करनी है। तथा नए सिरे से अपना खाता खोलना है। यह प्रतिक्रमण एक बहुमूल्य पद्धति है– आत्म संशोधन की। लेकिन यह भी एक औपचारिक शब्दोच्चारण न रह जाए। सच्चे दिल से यदि हम अपनी गल्तियों पर दृष्टिपात करेंगे तो उनका निराकरण भी संभव है। एक छात्र ने 12 वर्ष तक अपने गुरु से विद्याध्ययन किया। वह लगभग हर विद्या में पारंगत हो गया, लेकिन गुरु ने उसे प्रमाण पत्र नहीं दिया। कहने लगे तीन दिन के लिए तुझे एक सराय के प्रबंधक के पास जाना है और उसकी हर गतिविधि का सूक्ष्मता से निरीक्षण करना है। फिर मुझे आकर बताना है कि तूने क्या सीखा है? वहां के तीन दिन यहां के 12 वर्षों से अधिक मूल्यवान रहेंगे। गुरु की आज्ञा

लेकर शिष्य उस सराय के प्रबंधक के पास पहुंचा। उसे अपने गुरु का परिचय और भेजने का उद्देश्य बताया। और कहा कि मैं कुछ दिन आपके पास रहूंगा। प्रबंधक कहने लगा कि मैं तो निपट अनपढ़ आदमी हूं। मैं तुम्हें कुछ नहीं सिखा सकता। हाँ, ये सराय आपकी है, जितने दिन ठहरना चाहो, ठहरो। वह युवा शिष्य वहां की प्रत्येक गतिविधि को गौर से देखने लगा। वह प्रबंधक सुबह होते ही सभी बर्तन बाहर निकाल लेता, उन पर कपड़ा मार देता, कपड़े निकालता और झाड़ देता। कमरों में झाडू लगा देता। फिर इसी तरह शाम होने से पहले बर्तनों को निकालता, कपड़ों से पोंछ देता, कपड़े निकालता, झाड़ देता, कमरों की सफाई कर देता । दिन में यात्री आते उन्हें आराम से ठहरा लेता, रात को आते उन्हें रोक लेता। इसके अलावा उसके पास कुछ कार्य न था। आगन्तुक विद्यार्थी तो तीन दिन में ही बोर हो गया। जैसे तैसे तीन दिन काटे और गुरुदेव के चरणों में पहुंच गया। गुरु ने पूछा– उससे क्या सीखने को मिला। शिष्य बोला– गुरुदेव! वह तो बिल्कुल अनपढ़ आदमी है। उसने तो मुझे कुछ नहीं सिखाया। गुरु ने पूछा– उसकी दिनचर्या में तूने क्या देखा? शिष्य कहता है– कुछ नहीं, दो टाइम कपड़ों, बर्तनों और कमरों की सफाई कर देता है और उसके पास न कोई विद्या है, न कला। गुरु ने समझाया– बस यही उसकी सराय की सुन्दरता, बर्तनों तथा कपड़ों की स्वच्छता का राज है। मैं तुम्हें यही कहना चाहता था कि जिस तरह वह दिन में सुबह शाम दो बार अपने सामान और मकान की सफाई कर लेता है, उसी प्रकार तू भी संसार में जाकर दिन में दो बार अपने मन की तथा अपनी गतिविधियों की सफाई करते रहना। एक दिन में ज्यादा धूल नहीं जमती और सफाई भी जल्दी हो जाती है। यदि लम्बे समय तक अपनी भावनाओं और क्रियाओं पर झाडू न लगाई जाए तो गर्द ज्यादा जम जाती है, फिर उनकी धुलाई और सफाई में दिक्कत आती है।

लगभग यही बात प्रतिक्रमण के द्वारा समझाई जाती है। प्रतिदिन दो बार प्रतिक्रमण करने के कारण ही साधु साध्वी की साधना निर्मल रह सकती है। यदि गृहस्थ भी दो बार करे तो फायदा ही है। यदि ऐसा न हो तो हर 15 दिन में एक बार प्रतिक्रमण कर लें। यदि 15 दिन में भी न हो तो चार महीने बाद कर ले। यदि चार महीने बाद भी न होता हो साल भर में एक बार—संवत्सरी के रोज—तो अवश्य ही कर लेना चाहिए। इस प्रतिक्रमण का ही एक प्रमुख अंश है आलोचना अर्थात् अपने दोषों की गुरुओं के सामने स्वीकृति। Confession of one's guilts before one's Guru. हमने जिंदगी में अनेक पाप किए हैं। कुछ अपनी मर्ज़ी से किए हैं तो कुछ किसी की प्रेरणा से। कुछ वचपन में किए हैं तो कुछ जवानी के जोश में। वे सब पाप दोष हमारी अन्तरात्मा को अन्दर-अन्दर खाए जा रहे हैं। कभी वे हमारी नींद में उभर कर आते हैं तो कभी वे जागृत अवस्था में हमें Torment करते हैं। उनकी भूतही छाया से बचने का क्या उपाय है, ये मन बार-बार सवाल पूछता है। तो उत्तर है— आलोचना। अपने किसी भी श्रद्धेय महापुरुष के समक्ष जाकर एक बार अपनी सारी भूलों को प्रकट कर दो। उनके सामने कह दो— हे गुरुदेव! मैं आपका छोटा बच्चा हूं। मैं अपने मन की कुछ अन्तरंग बातें सुनाना चाहता हूं।

"बाल लीला युक्त बालक है पिता के पास में
बोलता निर्द्वन्द्व जैसे सान्वना की आस में
मैं भी मन की ग्रन्थियां कुछ खोलना हूं चाहता
बोलना आता नहीं पर बोलना हूं चाहता
मुख मेरा दूषित हुआ है निन्दा और अपवाद से
नेत्र दूषित कामिनी दर्शन के हैं आस्वाद से
हृदय दूषित दूसरों की हानि का कुविचार कर
किस तरह कृतकृत्य होऊंगा मैं निज संहार कर"

इस तरह अपनी भूलों को याद कर करके गुरु के सामने पेश कर दो। मत चिन्ता करो कि मेरी बदनामी हो जाएगी। मेरी छवि खराब हो जाएगी। दिल फट-फट आएगा-कहेगा-रहने दे, क्यों अपनी बही किसी को दिखाता है। मन बड़ी शरारत भरी बातें सुनाएगा, लेकिन उसकी एक नहीं सुननी। अब तो हौंसला करके दिल का सारा कूड़ा बाहर निकाल दो। एक विरेचन-Catharsis-हो जाएगा। अन्तरात्मा बिल्कुल हल्की और स्वच्छ हो जाएगी। आज के दिन हो जाए तो अच्छा है, यदि आज ऐसी अनुकूलता नहीं हो तो आज निर्णय कर लो, शीघ्रातिशीघ्र गुरुचरणों में जाकर आलोचना करेंगे। उसका First Step ये है कि आज अपनी डायरी में अपनी बातें Note कर लो और वक्त आने पर उन्हें गुरु के सामने सुना दो या पढ़वा दो। ये है आज के दिन का विशेष संदेश।

आज का सर्वाधिक Important संदेश है– क्षमापना। क्षमापना का अर्थ है अपने प्रति किसी ने गलती की हो तो उसे माफ कर दें तथा अपनी ओर से किसी के साथ दुर्व्यवहार हुआ हो तो उनसे क्षमा मांग लें।

"औरों की भूलों को भूलें, अपनी भूलें याद रखें हम
वैर भाव के विष को छोड़ें, प्रेमभाव की सुधा चखें हम"

जिन्दगी का बड़ा विषम दौर चलता है। संघर्ष और द्वन्द्व कदम-कदम पर मिलते हैं। इन संघर्षों के कारण हमारे प्रेम भरे रिश्ते भी बिखर जाते हैं। यदि आदमी अपने अतीत में झांककर देखे तो पता चलेगा कि उसने कितने मित्रों को दुश्मन मान लिया या बना लिया है, उस दुश्मनी के कारण न उसे चैन है, न सामने वाले को। एक कशमकश सी चलती रहती है। घात प्रतिघात होते रहते हैं। इस बेचैनी का इलाज है– क्षमापना। Forgive and Forget, माना कि किसी ने आपका अपकार कर दिया, अपमान कर दिया, आपकी जड़ें खोद दी, आप पर बेबुनियाद आरोप लगा दिए, आपके विषय में अनर्गल प्रचार कर दिया, आपका

कारोबार बन्द करवा दिया, आपके प्रतिकूल रहा था लेकिन क्या पिछले दिनों की कड़वी यादों को भुला नहीं सकते। प्यारे भाई-बहनों, जरा भूलों को भूलकर भुलाकर देखो, कितना आनन्द आएगा। ये त्यौहार इसी साहसिक कदम को उठवाने के लिए आया है। माना कि विरोध को भूलना और क्षमा करना कठिन है, मगर तुम तो वीर की संतान हो, वीर, परमवीर हो, अपनी वीरता को वैर में मत बदलो, मित्रता में बदलो। गजसुकुमाल के सिर पर सोमिल ने जलते धधकते अंगारे रख दिए थे, शरीर जलकर राख हो गया था, लेकिन गजसुकुमाल ने सोमिल को अपना शत्रु नहीं माना। भगवान श्री अरिष्टनेमि ने कहा था कि गजसुकुमाल की नज़रों में सोमिल घातक नहीं, सहायक था, जिसने क्रोड़ों भवों के कर्म खत्म करने में मदद दी। भगवान महावीर स्वामी ने छः महीने तक कष्ट देने वाले संगम को न केवल माफ ही किया अपितु उसके प्रति सहानुभूति के दो आंसू भी टपकाए थे। भगवान पार्श्वनाथ ने कमठासुर के प्रति घोर परिषह देने पर भी शत्रुता नहीं रखी अपितु प्रेमभाव रखा।

आज के युग में भी क्षमाभाव के उत्तम उदाहरण मिल जाते हैं। एक विधवा का पुत्र था प्रदीप, बहुत होनहार था। पढ़ाई में अव्वल आता था। पास के गांव के स्कूल का दूसरा बालक भी उसके बराबर का था। उस स्कूल का Headmaster रघुराज सोचता था कि दसवीं क्लास में मेरे स्कूल का विद्यार्थी First आए न कि प्रदीप। जब Exam का Time आया, तब प्रदीप की मां बीमार हो गई। उसकी दवाईदारु करने में प्रदीप को देरी हो गई। जब वह Centre पर पहुंचा तो 5 मिनट लेट था। स्कूल के Headmaster रघुराज ने प्रदीप को Exam में नहीं बैठने दिया। और उसका वह साल खराब हो गया। इस सदमें में उसकी मां काल कर गई। प्रदीप ने अपने आपको संभाला। धीरे-धीरे पढ़ाई की और बड़ा होकर Principal बन गया। वक्त ने करवट ली। Exam के दिन थे। एक बूढ़ा सा आदमी एक बालक को लेकर Gate पर आया,

प्रिंसीपल साहब से कहने लगा– मेरा पोता मजबूरी में लेट हो गया, आप कृपा करके इसे इस Exam से वंचित न करे। प्रिंसीपल प्रदीप ने बच्चे को अन्दर जाने का इशारा कर दिया और उन बुजुर्ग महानुभाव की ओर मुखातिब होते हुए पूछा– क्या आप मुझे पहचानते हो? वृद्ध महाशय ने मना कर दिया, तब प्रिंसीपल प्रदीप ने कहा– याद कीजिए, आप एक स्कूल में Head Master थे, आपके Centre पर पड़ौसी गांव का बच्चा प्रदीप 5 मिनट लेट हो गया था, आपने उसे अन्दर नहीं घुसने दिया था। मैं वही प्रदीप हूं। आज मैं भी आपके साथ ऐसा ही सलूक कर सकता था। लेकिन मेरी मां ने मरते समय कहा था, बेटा! शत्रुता का बदला शत्रुता से मत लेना। भूल किसी से भी हो सकती है। इंसान गलतियों का पुतला है। To err is human but to forgive is devine. हमें कभी-कभी मानवीय धरातल से ऊपर उठकर देवत्व की ओर भी बढना होगा। एक बार की दुश्मनी जिन्दगी भर के संबंधों को जहरीला न बना दे, इस बात के लिए चौकस रहने की आवश्यकता है। रघुराज ने प्रदीप के क्षमाभाव को समझा और अपने कमीनेपन पर शर्म आई। उसने अपना सिर झुकाते हुए कहा– पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को सलाम करती है। जहां पुरानी पीढ़ी ने किसी की जिन्दगी में जहर घोला, वहां नई पीढ़ी ने अमृत बांटा है।

दो मित्र समुद्र तट पर घूम रहे थे। अचानक दोनों में कहासुनी हो गई। देखा जाए तो कहासुनी दोस्तों में ही होती है। जिन दोस्तों में कहा सुनी नहीं होती, उनकी दोस्ती लम्बे समय तक चलती भी नहीं है। एक दोस्त ने दूसरे दोस्त के मुंह पर थप्पड़ जड़ दिया। जिसके थप्पड़ लगा था उसने समुद्र तट पर पड़ी रेत पर लिख दिया कि आज मेरे दोस्त ने मुझे जोर से थप्पड़ मारा है। शिकायत लिखकर उसने परमात्मा के हवाले कर दी। और फिर जीवन की व्यस्तताओं में समाविष्ट हो गया। अगले वर्ष फिर दोनों दोस्त समुद्र तट पर स्नान करने गए। एक दोस्त जो पिछले साल पिटा था, वह समुद्र के पानी में स्नान करते-करते डूबने

लगा। तब दूसरे दोस्त ने छलांग लगाकर उसे बाहर निकाल लिया। जीवनदाता उस मित्र का धन्यवाद करने का उसने तरीका निकाला, एक छैनी ली और पास ही पड़े विशाल पत्थर पर उसने लिखा– 'आज मेरे प्रिय मित्र ने मेरी जीवन रक्षा की और Date डाल दी' और अपना धन्यवाद अनन्त असीम को प्रषित कर दिया। बचाने वाले मित्र ने कहा– पिछली बार भी तूने लिखा था, इस बार भी। मगर तब तूने रेत पर लिखा था, अबकी बार पत्थर पर, ऐसा क्यों? उसने उत्तर दिया– दोस्त! हमें अपने साथ किए दुर्व्यवहारों के प्रति इतना सा गिला करना चाहिए जितनी देर रेत पर असर रहता है, तथा अपने साथ किए गए उपकारों को इतना याद रखना चाहिए जितना कि पत्थर का लेख।

क्षमापना का कितना सुन्दर उदाहरण है ये। हमने पिछले दिनों में, सालों में जितने मित्र खोए हैं, जो संबंध बिगाड़े हैं, जो कटुताएं पाली हैं, उन सबका ईलाज आज क्षमापना से कर लें। खुलकर कह दें, मैं सबको क्षमा करता हूं, सब मुझे क्षमा करें। मेरे मन में सबके लिए मित्रता का भाव है, किसी से भी शत्रुता नहीं है, वैर भाव नहीं है। कविता की कुछ पंक्तियां ध्यान से सुनना।

आओ एक नई शुरुआत करें,
जिनसे हैं बातें हमारी टूटी हुई उनसे ही शुरु बात करें।
उधड़े फटे कटे लिबास को सीने के लिए,
दिल की सूई में आज ही सूत्रपात करें ॥
हमारे नजदीकी रिश्ते किसी गुमां के शिकार हुए हैं,
छोड़ के गरूर चलें मुलाकात करें।
चोट खाई है, दर्द झेले हैं हमने व तुमने,
क्यों नहीं आगे के लिए हमवार हालात करें ॥
तालीम से मजहब से अगर कुछ सीखा है,
दिल से दुश्मनी के दूर ख्यालात करें।
आग जल रही है जहां भी नफरत की, घृणा की,

प्रेम प्यार मोहब्बत की जमकर बरसात करें ॥
कसम खाएं कि हम नहीं पलटवार करेंगे,
पड़ौसी चाहे कितनी शरारत भरी वारदात करें।
साथी जो बिछुड़ गए हैं जीवन के सफर में,
मनुहारों से मना के उन्हें अपने साथ करें ॥
जो करें नेकनीयती, ईमानदारी से करें,
अच्छे कामों में कम से कम, नहीं सियासात करें ॥

यह है तरीका जिन्दगी के मार्ग परिवर्तन का। यदि हम क्षमा करने की भावना बनाएंगे तो दूसरे भी क्षमा देने के लिए कदम बढाएंगे। शुरू-शुरू में हो सकता है कि कुछ लोग हमारी क्षमापना को पाखण्ड समझें, एक चालबाजी मानें, मगर हम अपनी अच्छी भावनाओं को जारी रखेंगे तो सामने वाले का दिल भी पिंघल ही जाएगा। आखिर वह भी तो है इंसान ही। हो सकता है वह कुछ ज्यादा चोटें खाया हुआ हो, ज्यादा होशियार हो, लेकिन है तो वह भी हम और आप जैसा ही। उसका मन कोई पत्थर नहीं है। चलो, ये भी मान लिया जाए कि वह सौ बार मनाने पर भी नहीं मानेगा, नहीं मुड़ेगा। इस बात पर भी प्रभु महावीर ने एक शानदार समाधान दिया है। 'तम्हा उवसमियव्वं, उवसमावियव्वं, जो उवसमइ अत्थि तस्स आराहणा, जो न उवसमइ नत्थि तस्स आराहणा, कम्हा भन्ते। जम्हा, उवसम सारं खु सामण्णं'। 'खुद को शान्त करो, औरों को शान्त करो, जो शांति रखता है, वह आराधक है, Pass है, जो शांति नहीं रखता, वह विराधक है Fail है। श्रमण धर्म का सार ये है कि तुम शांति को प्राप्त हो जाओ।' यदि आप शांत हो गए तो बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसके साथ कोई और भी शांत हो जाए तो सोने पे सुहागा। पहला ध्येय तो अपने को शांत करना है।

इसी शांति के लिए क्षमा देना और क्षमा मांगना आवश्यक है। क्षमा देने के लिए क्रोध त्याग करना होगा, क्षमा मांगने के लिए अहंकार का।

ये दो कषाय काबू में आ गई तो बाकी कषाय भी काबू में आ जाएगी। आज संवत्सरी के उपलक्ष में तपस्या करने का विधान भी है। पौषध, व्रत, एकाशना, रात्रि भोजन का त्याग आदि तपस्याएं अपनी-अपनी श्रद्धा और अनुकूलता के साथ करनी होती हैं। यथाशक्ति दान पुण्य भी करने की भावना बनाई जाती है। मानवता के कल्याण के लिए जो भी सेवा कार्य हमसे हो सके हमें करना चाहिए। ये मानव जीवन हमें मिला है, इसकी सफलता इसी में है कि ये जीवन, इस जीवन की उपलब्धियां किसी के काम आ सकें। अपना दैनिक जीवन ऐसा बनाएं कि घर परिवार के हर सदस्य को लगे कि इसका जीवन अनुकरण के योग्य है। घर के सभी सदस्य आपकी पीठ के पीछे भी आपकी तारीफ करें, तब आपकी धार्मिकता का सही मूल्य आंका जाएगा।

संवत्सरी पर्व पर आपके निमंत्रण पर हमारा आना हुआ है। आपने भरपूर स्नेह और प्यार हमें दिया है। हम आपके बहुत-बहुत आभारी हैं। हमारे किसी व्यवहार से, वचन से या किसी भी चेष्टा से आपको खेद हुआ हो तो हम आपसे हार्दिक क्षमा याचना करते हैं। आपका प्यार हमेशा ही मिलता रहेगा, ऐसी आशा है। हमार आपका धार्मिक रिश्ता जुड़ गया है, इसे कायम रखना है। रात को प्रतिक्रमण होगा, उसके लिए आप सब तैयार होकर आएं, ऐसी विनति है। अंत में एक भजन के माध्यम से संवत्सरी का महत्व बताएंगे।

(तर्ज–नैन कटोरे)

संवत्सरी है, खुशी ही खुशी है, पर्व धर्म का आया है
ओ; पर्व धर्म का आया है, अरिहन्तों ने फरमाया है ॥ टेक ॥

1. युद्ध वीर हैं युद्ध में चढ़ते लिए हौंसला पर्वत सा
जैन वीर हैं तप में बढ़ते भूख प्यास की क्या परवाह
तन को भुलाकर, मन को मनाकर, मोर्चा खूब लगाया है॥

2. नमोकार का जाप हमारी करता दूर समस्याएं
इसके दम पर ही होती हैं अपनी पूर्ण तपस्याएं
जो पांच पद हैं, महाशांतिप्रद हैं, अविचल ध्यान लगाया है॥

3. संघ संगठन का ये पर्व है भेदभाव सब भूलेंगे
देंगे नहीं दुर्भाव किसी को, नहीं किसी से भी लेंगे
अपनेपन का, प्रेममय मन का, भाव विशुद्ध बनाया है॥

4. पश्चात्ताप अतीत पाप का आगे का कुछ नियम करें
धर्म ध्यान में बढ़ने का हम हरदम उद्यम परम करें
पाप घटाएं, धर्म बढ़ाएं, यही इसने सिखलाया है॥

5. सबसे मांगे क्षमा सभी को शुद्ध भाव से क्षमा करें
पिछले झगड़े शान्त करें और कोई न झगड़ा नया करें
वैर है दूषण, क्षमा है भूषण, सजे तो पर्व मनाया है॥

आपके सुन्दर, समुज्ज्वल भविष्य की शुभकामना के साथ

'जय जिनेन्द्र'।

भाग-2

नमस्कार पुण्य के अंतर्गत एक व्यक्ति किसी भी व्यक्ति को सत्कार-सम्मान दे सकता है। पूज्य पुरुषों को नमन करना भी नमस्कार पुण्य है तो समाज के उपेक्षित वर्ग के व्यक्तियों को समानता के धरातल पर सम्मानित करना भी नमस्कार पुण्य ही है।

एकान्तवादी चिन्तक कहता है मैं ही सत्य की समझ रखता हूँ। मेरा धर्म, मेरा सम्प्रदाय ही सही है ये धारणा उसकी दृढ़ मूल रहती है। 'ही' को छोड़ना 'भी' को अपनाना वैचारिक क्रांति है जो उसके वश की बात नहीं है। उन्हें वह भय सताने लगता है कि यदि हमने सामने वाले की मान्यता को सही कह दिया तो हमारी मान्यता झूठी सिद्ध हो जाएगी। उनका यह भय निराधार है, क्योंकि अन्य की सत्यता मेरी सत्यता को निरस्त-ध्वस्त नहीं करेगी। मैं भी सत्य का अधिकारी रहूंगा, सामने वाला भी। सत्य इतना विशाल है कि कोई भी व्यक्ति उसकी सीमा से बहिष्कृत नहीं होता। न मैं, न तुम, न वह। First, Second, Third तीनों Persons एक समय में सत्य के स्वामी हो सकते है।

यदि आप अपनी सेहत, दौलत और इज्जत को बचाना चाहते हो, अपनी अगली पीढ़ी को सुरक्षित रखना चाहते हो तो शराब की एक घूंट से भी बचो। वर्ना यही शराब धीरे-धीरे स्मैक, हीरोइन, गांजा, अफीम तथा दूसरी खतरनाक Drugs का रास्ता खोल देगी। अच्छी ज़िन्दगी जीने के लिए कम से कम आप व्यसनमुक्त तो हो ही जाओ।